सीढ़ियों पर धूप में

रघुवीरसहाय

भारतीय
ज्ञानपीठ,
काशी
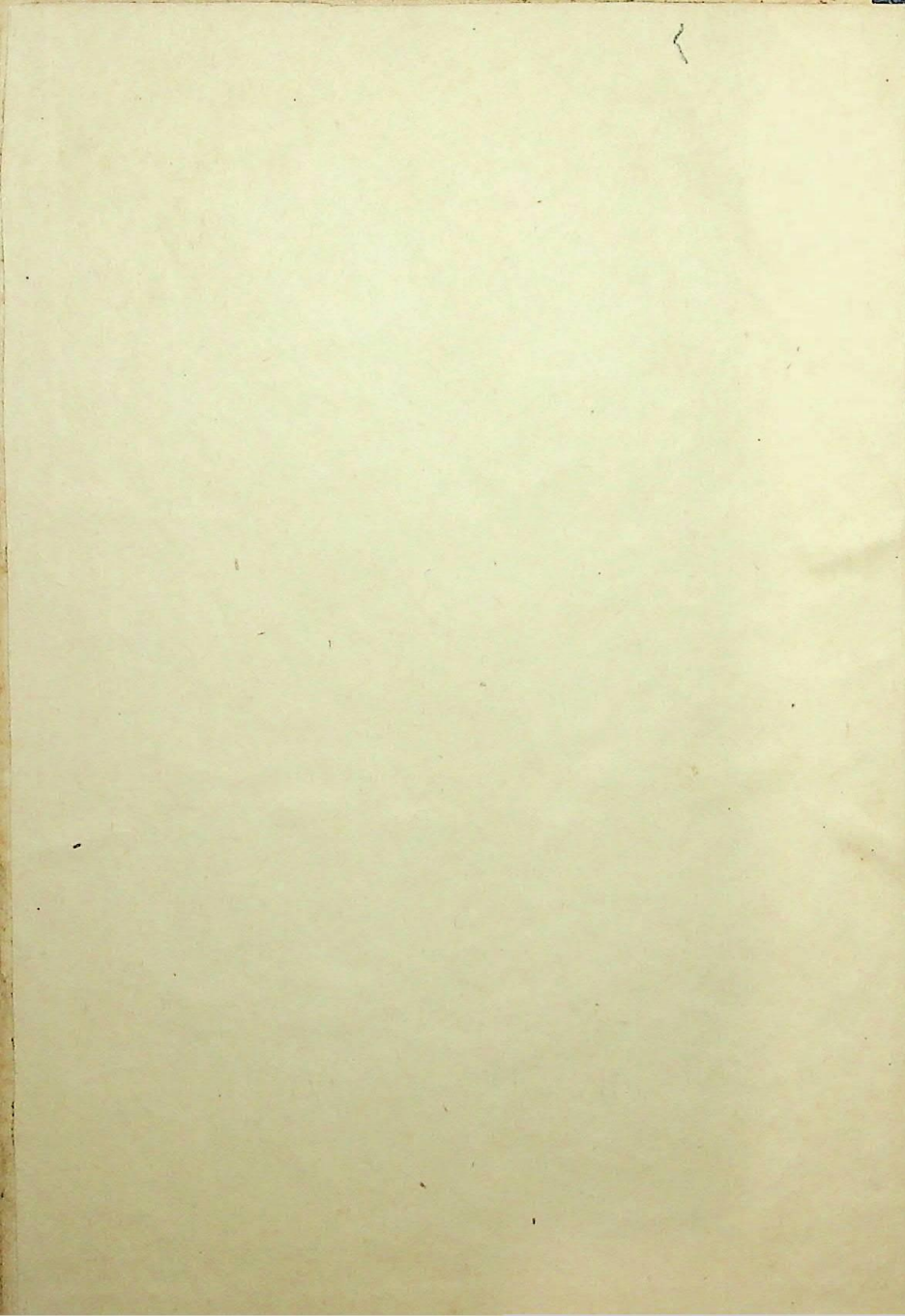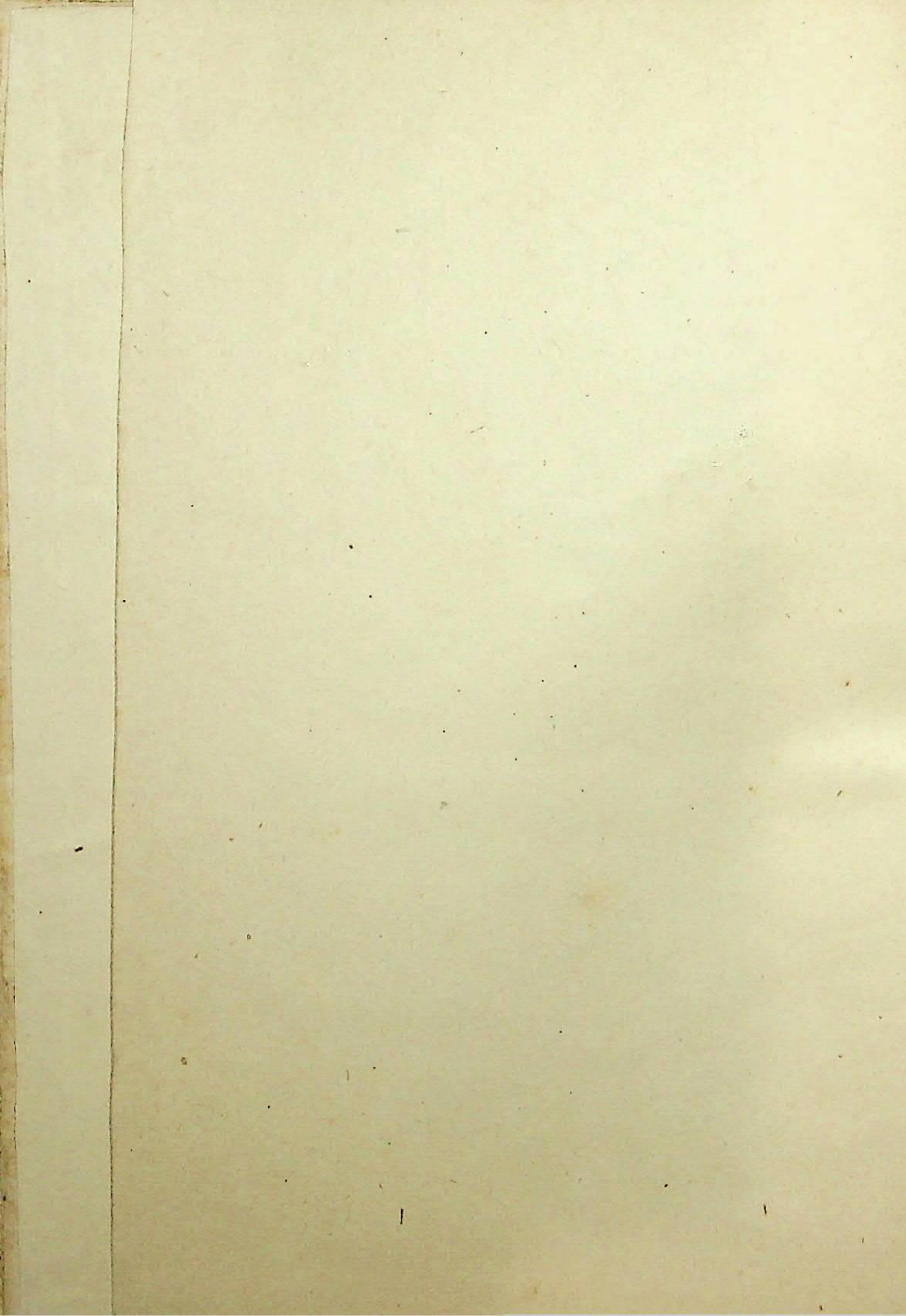
सीढ़ियों पर धूप में

नये साहित्य-स्रष्टा : दो

सम्पादक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन

सीढ़ियों पर धूप में

[कहानियाँ, कविताएँ, लेख]

रघुवीरसहाय

भारतीय ज्ञानपीठ
काशी

भूमिका

" 'नये साहित्य-स्रष्टा' ग्रन्थमालामें क्रमशः ऐसे साहित्यकारोंकी रचना पाठकके सामने उपस्थित करना अभीष्ट है जिन्होंने न केवल नया या रोचक या अच्छा कुछ लिखा है, वरन् जिनका साहित्यिक कृतित्व उस संघर्षको भी प्रतिबिम्बित करता है जो इस कालके साहित्यकारको अपनी निष्ठाकी रक्षाके लिए और अपने कला-मूल्योंकी प्रतिष्ठाके लिए करना पड़ता रहा।

"यह इस संघर्षकी बहुमुखता और जटिलताका एक चिह्न है कि समवर्त्ती कृतिकार प्रायः एकसे अधिक माध्यमोंमें रचना करते हैं। ऐसे लेखक कम हैं जो केवल कहानीकार, या केवल कवि या उपन्यासकार या नाटककार या आलोचक हों। यह निरा 'हरफ़न मौला' होनेका शौक़ नहीं है; न अनुशासनहीनता अथवा अराजकताका चिह्न, न साधनाकी कमी अथवा गुरु-शिष्य पद्धतिकी उपेक्षा। और यह भी एक अत्यन्त एकांगी सत्य होगा अगर कहा जाय कि आर्थिक कारणोंसे कृतिकारको सभी तरहकी चीज़ें लिखनी पड़ती हैं। यदि कवि लोग कहानियाँ और रेडियो-रूपक लिखने लगते और समीक्षक नाट्यकार (पाठ्य-क्रमोपयोगी) हो जाते और बात वहीं तक रह जाती, तब तो आर्थिक प्रभावकी प्रधानता माननी पड़ती। पर ऐसे भी उदाहरण अनेक मिलेंगे जहाँ सफल कहानीकारोंने कविता लिखना आरम्भ किया है और आग्रहपूर्वक कविता लिखते ही चले गये हैं—यद्यपि कविताओंसे कुछ आय नहीं होती रही है जब कि कहानियों की माँग बराबर बनी रही है और उनके लिए पेशगी पारिश्रमिक पा लेना भी असम्भव नहीं रहा है।

"यह बहुमुखता इस ग्रन्थमालामें प्रतिबिम्बित हो, यह उसके उद्देश्य का स्वाभाविक परिणाम है। विना उसके वह कैसे समकालीन संघर्षों और

प्रवृत्तियोंका प्रतिनिधित्व कर सकती ? पर वह इसलिए भी ग्राह्य और अभिनन्दनीय है कि इस प्रकार वह प्रत्येक ग्रन्थको एक प्रीतिकर विविधता दे देती है। एक पुस्तक एक साथ ही एक साहित्यकारका पूरा प्रतिनिधित्व भी करे, और नाना रस-व्यंजनोंसे पाठककी रसनाको लुभाये और तृप्त भी करे, यह सम्भावना इस ग्रन्थमालाको न केवल अपने ढंगका एक-मात्र प्रयास बना देती है वरन् आजकी स्थितिमें एक महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् प्रयोग भी। पाठक वर्ग, आशा है, इसे इसी रूपमें ग्रहण करेगा।''

यह लम्बा उद्धरण **नये साहित्य-स्रष्टा** ग्रन्थमालाके पहले ग्रन्थकी भूमिकासे लिया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ उसी मालाका दूसरा ग्रन्थ है। मालाके उद्देश्योंके, अथवा उसके अन्तर्गत **'सीढ़ियोंपर धूपमें'** के प्रकाशनके औचित्यके विषयमें कुछ नया कहनेकी आवश्यकता नहीं है। यह पुस्तक भी उसके लेखककी पहली प्रकाशित पुस्तक है; इसके बारेमें भी सम्पादक विनयपूर्वक कहना चाहता है कि इसका प्रकाशन उसके लिए भी उतना ही आनन्दप्रद है जितना लेखकके लिए—बल्कि उसमें यह अतिरिक्त सन्तोष भी है कि इसके द्वारा उसे अपने कृतित्वमें नहीं, समूचे हिन्दी साहित्यके कृतित्वमें अपनी आस्था प्रकट करनेका एक और सुयोग मिला है। 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' तो कृतिकारकी नैसर्गिक प्रवृत्तिको सूचित करता है, पर अपने समकालीन दूसरोंके कवित्तके नीकेपनका साक्षी और प्रवक्ता बन सकना एक अतिरिक्त सौभाग्य है। जिन्होंने इस आस्थाका आधार दिया है वे बड़े हों या छोटे, सभी वन्द्य हैं।

•

'सीढ़ियोंपर धूपमें' के लेखकसे मेरा परिचय प्रायः बारह वर्ष पहले हुआ। कुछ कविताएँ उनकी तब भी देखी थीं, पर पहली तीन-चार मुलाक़ातोंमें उन्हें कविकी अपेक्षा अंग्रेज़ी साहित्यके विधिवत् विद्यार्थी (तब वह एम० ए० परीक्षाकी तैयारी कर रहे थे) और हिन्दी-उर्दूके अवैध अध्येता

के रूपमें ही जाना। पढ़ने-लिखनेकी चिन्ताके साथ-साथ पढ़ने-लिखने वालोंकी चिन्ता भी उन्हें परेशान किये रहती है, यह उस एकान्त गम्भीरता-से स्पष्ट हो जाता था जिससे वह लखनऊके लेखक-संघके कार्यकी चर्चा किया करते थे—वह संघके तत्कालीन मन्त्री थे। सच कहूँ तो साहित्यिक कृतित्वके प्रति इस गम्भीर उत्तरदायित्व-भावने ही पहले मुझे उनकी ओर आकृष्ट किया। वर्षोंके अनुभवके बाद जानता हूँ कि आज यह कहनेमें थोड़ा संकोच होगा कि अपने कार्यके—या कि अपने जीवनके भी!—प्रति उनका उत्तरदायित्व-भाव वैसा ही नीरन्ध्र या निर्मम है; पर जीवनके साधारण दायित्वोंके प्रति यह जब-तबकी लापरवाही उस निष्ठाको और भी मूल्यवान् बना देती है जो कृति-कर्म (क्यों न उसे इस सन्दर्भमें कृति-धर्म कहा जाय ?) के प्रति उनमें बराबर रही है। पहला 'आलाप' जब इस कोटिपर पहुँचा कि उसे 'परिचय' कहा जाय, तब मैंने मन ही मन रघुवीर सहायको 'एंक्शस यंग मेन' के वर्गमें रखा लिया था; आज भी मेरी समझमें वह एक 'एंक्शस यंग मैन' ही हैं और मेरा ध्रुव विश्वास है कि यह वर्ग बादके 'एंग्री यंग मेन' की अपेक्षा अधिक वयस्क और निर्माण-सम्भावी रहा और है।

यह 'एंग्ज़ायटी' या परेशानी क्या है, किस लिए है ? सबसे पहले यह रचनाकी प्रक्रियाके सम्बन्धमें है। क्या 'रचना' है, और क्या रचनाका बुद्धिजन्य संस्कार ? संवेदनापर परिस्थितिकी क्रिया-प्रतिक्रियासे—आभ्यन्तर पर बाह्यके संघातसे—रचना होती है। पर ठीक वह क्षण क्या है जिसमें बाह्य निरा बाह्य न रह कर द्वन्द्व-रत 'दूसरा पक्ष' हो जाता है—जो कि संघातका वास्तविक क्षण है; कैसे वह द्वन्द्व अवचेतनसे चेतनमें आता है, या लाया जाता है, या आये बिना चेतनको प्रेरित करता है····रघुवीर सहाय की कहानियोंमें, या समय-समयपर टीप लिये गये अन्तरालोकित वाक्योंमें, संघातके उस च्णको पकड़नेकी एकान्त सजगता बार-बार लक्षित होती है। यह नहीं कि बुद्धि-जन्य संस्कारके प्रति वह उदासीन हैं या उसके विरोधका, 'अबुद्धिवाद'का कोई आग्रह करते हैं। कौन कलाकार ऐसा होगा जिसने

अनुभूतिको, शुद्ध संवेदनाको; ज़रा भी सँवारा नहीं ? (और अगर किसी कलाकारने अलंकृति नहीं, शिल्पमात्रके प्रति ऐसी उपेक्षाका दावा किया हो, तो कौन समीक्षक उसे ज्यों क्या त्यों मान लेगा ?) निस्सन्देह रघुवीरसहाय शिल्पी हैं, कुशल शिल्पी हैं; 'कच्चे माल'के कच्चेपनको ही साहित्यिक मूल्य बनाना उनका इष्ट नहीं है पर वह वास्तवमें 'माल' हो यह वह बराबर पहचानते रहना चाहते हैं, और इसलिए निरन्तर यह भी जाँचते चलते हैं कि जिन कसौटियोंपर वह उसे परखते हैं वे विश्वास्य हैं या नहीं, जिन मानकोंके आधारपर वह चलते आये हैं वे अब भी प्रामाणिक हैं या नहीं। कह सकते हैं कि रघुवीरसहाय एक आत्मचेता (सेल्फ़-कांशस) कलाकार हैं; और यह आत्म-चेतना उनकी आधुनिकताकी बुनियाद है।

यह कहा जा सकता है—और इस युक्तिमें सार है—कि सर्वश्रेष्ठ कलामें इस प्रकारकी आत्म-चेतना नहीं होती, कि महान् कलाकृति इस अर्थमें अचेतन (अन्-कांशस) होती है। यदि यह युक्ति सही है, तो इसकी यह उपपत्ति भी सही है कि आधुनिक कला महान् नहीं हो सकती क्योंकि वह अनिवार्यतया आत्म-चेतन है—उसकी आम-चेतना ही तो उसकी आधुनिकताकी प्रतिज्ञा है। असम्भव नहीं कि जिस कलाके प्रवक्ताके नाते मैं यह बात कह रहा हूँ उसके कृतिकार इसे अनधिकृत कथन मानें और अपनी वास्तविक या सम्भाव्य महत्ताका दावा छोड़ देनेको तैयार न हों। पर मैं क्योंकि उनकी ओरसे नियुक्त होकर नहीं बोल रहा हूँ—'एडवोकेट' (वकील) न होकर 'एमिकस क्यूरियाए' (न्याय-हितैषी) के नाते ही बोल रहा हूँ, अतएव उनके द्वारा प्रत्याख्यात होनेपर भी मेरा अपना विश्वास प्रकट करनेका अधिकार अक्षुण्ण बना रहता है।

तो नये हिन्दी गद्य लेखकोंमें जिन्हें वास्तवमें 'माडर्न' कहा जा सकता है, उनमें रघुवीरसहाय अन्यतम हैं। आधुनिक हिन्दी कहानीके विकासकी चर्चामें, यदि 'आधुनिकता'पर बल दिया जा रहा हो, तो पहले दो-तीन नामोंमें अवश्यमेव उनका नाम लेना होगा। कदाचित् पहला नाम ही

उनका हो सकता है। उनकी सरल, साफ़-सुथरी और अत्यन्त सधी हुई भाषा इसके सर्वथा अनुकूल है। उसका संस्कार शहरी है तो किसी कृत्रि-मताके अर्थमें नहीं; अच्छे घरमें रोज़ काम आनेवाले बर्त्तनोंमें मँजते रहनेके कारण जो चमक होती है—जो उन्हें आलमारीमें सजानेकी प्रेरणा न देकर सहज व्यवहारमें लानेकी प्रेरणा देती है—कुछ वैसी ही प्रीतिकर सहज ग्राह्यता उनकी भाषामें है। हमलोग यह माननेके आदी हैं कि हिन्दी खड़ी बोलीके नाते मेरठ-दिल्ली अञ्चलकी भाषा है, और निस्सन्देह उसको प्रतिष्ठा देनेमें बनारसका योग भी कम महत्त्वका नहीं रहा, और इलाहाबाद तो हिन्दीका गढ़ ही है, पर हिन्दीके बोले जानेवाले रूपको जो संस्कार और निखार लखनऊने दिया है उसे अलगसे स्वीकार करना चाहिए। कानपुर तकने हिन्दीकी अपनी सेवाओंका खरीता पेश किया है; लखनऊने वैसा कोई दावा नहीं किया तो मैं तो यह मान लूँगा कि यह उसकी शालीनताका ही प्रमाण है, उसकी नगण्यताका नहीं!

भाषाकी यह सहज प्रवहमान प्रसादमयता उनकी कवितामें भी ज्यों की त्यों है। कविता भाषाका विशिष्ट प्रयोग तो है ही और भाषा-शक्तिका विशिष्ट प्रयोग रघुवीरसहाय भी अनिवार्यतया करते ही हैं, पर यह आवश्यक नहीं है कि भाषा-शक्ति केवल शब्दावलीकी शक्ति नहीं है। यानी 'अच्छे-अच्छे' शब्दोंसे ही वह नहीं आ जाती—यों मूलतः तो वह शब्द-शक्तिके अतिरिक्त हो ही क्या सकती है! काव्यमें 'अच्छा शब्द' अलगसे कोई अर्थ नहीं रखता; 'सही शब्द' ही अच्छा शब्द है। प्रतीकवादी के 'चीज़ोंके एक मात्र सही नाम' के आग्रहका वास्तविक अभिप्राय यही था, यद्यपि उस आग्रहकी विकृति एक सर्वथा निजी और अप्रेषणीय मुहावरे का आग्रह भी बन जा सकती है। रघुवीर सहायका आग्रह ऐसे निजीपन-का कदापि नहीं है; उनकी कवितामें एक भी पंक्ति ऐसी न मिलेगी जिस-पर अप्रेषणीयता, क्लिष्टता या दुरूहताका आरोप लगाया जा सकता हो—

यद्यपि उनकी भाषा इस अर्थमें निस्सन्देह निजी है कि कई कविताओंमें उनकी रचना केवल मुहावरेके आधारपर भी अलग पहचानी जा सकती है ।

कवितामें क्या भाषा ही सब कुछ है ? वस्तु और रूप, भाषा और विचार, अनुभावन और सम्प्रेषणकी एकतापर बल देना हो तो इस प्रश्नका उत्तर दूसरे प्रश्नसे दिया जा सकता है—कि भाषा नहीं तो और क्या महत्त्व रखता है ? क्योंकि काव्यके जो भी गुण बताये जाते या बताये जा सकते हैं अन्ततोगत्वा भाषाके ही गुण हैं ! पर सैद्धान्तिक आग्रहके द्वारा पाठकको लक्ष्य-विमुख न करके फिर कहूँ कि रघुवीर सहायकी भाषा, आधुनिक हिन्दीके काव्यकी दृष्टिसे सफल और प्रभविष्णु उपयोगका अच्छा उदाहरण है । अपने छायावादी समवयस्कोंके बीच 'बच्चन'की भाषा जैसे एक अलग आस्वाद रखती थी और शिखरोंकी ओर न ताककर शहरके चौककी ओर उन्मुख थी, उसी प्रकार अपने विभिन्न मतवादी समवयस्कों के बीच रघुवीर सहाय भी चट्टानोंपर चढ़ नाटकीय मुद्रामें बैठनेका मोह छोड़ साधारण घरोंकी सीढ़ियोंपर धूपमें बैठकर प्रसन्न हैं । यह स्वस्थ भाव उनकी कविताको एक स्निग्ध मर्मस्पर्शिता दे देता है—जाड़ोंके घामकी तरह उसमें तात्क्षणिक गरमाई भी है और एक उदार खुलापन भी जिसमें और जिसको हम 'दे दिये जाते हैं' :

···एकाएक छन जाता है मेरा अकेलापन
आवाज़ोंको मूर्खोंके साथ छोड़ता हुआ
और एक गूँज रह जाती है शोरके बीच जिसे सब दूसरोंसे छिपाते हैं
नंगी और बेलौस,
और उसे मैं दे दिया जाता हूँ···

—*सच्चिदानन्द वात्स्यायन*

अनुक्रम

जीता-जागता व्यक्ति [कहानियाँ]

सीढ़ियोंपर धूपमें [कविताएँ]

लेखकके चारों ओर [लेख]

समर्पण

इस पुस्तकमें संग्रहीत कृतियोंकी रचनाके समय मैंने बहुत कुछ त्यागा है, पर इतना अकेला अपनेको कभी अनुभव नहीं किया जितना यह समर्पण लिखते समय कर रहा हूँ।

"वह कितना सुन्दर था जो मैंने पाया था और मैं चला आया हूँ और दुःखी नहीं हूँ" यही मैं यह पुस्तक आपके पास छोड़ देते हुए कहना चाहता हूँ।

—र० स०

जीता-जागता व्यक्ति

कहानियाँ

खेल

नुक्कड़के मकानमें बढ़ई लगा हुआ था; उसने अभी-अभी एक कुन्देमें-से एक तख़्ता निकाला था; एक ज़रा-सा टुकड़ा लकड़ीका जो फ़ालतू बच रहा था किसी तरह छिटककर बरामदे से बाहर बजरीपर आ रहा।

वह काफ़ी देरसे बढ़ईकी कारीगरी देख रहा था। किसी भी तरहका कौशल मोहक होता है, फिर यह कौशल तो बच्चेको पसन्द आता ही, क्योंकि वह देखता आ रहा था कि किस तरह एक बेडौल खुरदरी लकड़ीको बढ़ईकी आरीने बीचसे दो कर दिया; फिर उसपर रन्दा चला। खर्र-खर्र करके देवदारके ख़ुशबूदार लच्छे निकलते आये और चिकना-सा तख़्ता निकल आया—उसपर लकड़ीके रेशे, गोल-गोल भँवरदार छल्ले, लम्बी लहरियोंदार लकीरें—बीचमें एक गाँठ—जैसे छपी हुई-सी—उसकी तबीयत होती थी इसी तरहका काम वह खुद करे—ठोंक-पीट, मरम्मतका काम—कोई चीज़ औज़ारोंसे तैयार करना।

इस टुकड़ेने उसे फ़ौरन खींचा। वह बढ़ईके कामका न था : बच्चा उसका कुछ-न-कुछ बना लेता; उसके पास एक बच्चेकी कल्पना थी जो किसी भी वस्तुमें किसी भी वस्तुकी प्रतिष्ठा कर सकती है।

वह पहले हिचका, फिर उसने लकड़ीका वह टुकड़ा उठा लिया और उसको उलट-पुलटकर देखते-देखते अनायास ही

मैदान तक आ गया। उस चौकोर मैदानमें धूप छिटकी हुई थी। धूप तक आते-आते उसका ध्यान बँट गया। बहुत-से और बच्चे मिलकर कोई खेल खेल रहे थे, उसके प्रभावमें वह भूल गया कि वह टुकड़ेका क्या करने जा रहा था।

उसने लकड़ीके टुकड़ेको ऊपर उछाला; चकरघिन्नीकी तरह घूमता हुआ वह ऊपर गया और जब नीचे आया तो बच्चेने उसे गोच लिया। वाह, यह भी तो एक खेल है! अब हर मर्तबा वह टुकड़ेको और ऊपर उछालता और उसके उतरते वक़्त डरता कि शायद इस बार रह जाऊँ, पर हर बार उसे गोच लेता।

धीरे-धीरे वह इस खेलसे ऊबता जा रहा था। इस बार टुकड़ा बहुत ऊपर गया था—अपनी चौकोर शकलको तेज़ीसे घूम कर गोल दिखलाता हुआ—और बच्चेने सोच लिया था कि इस बार न गोच सका तो कोई हर्ज नहीं—कि वह लकड़ीका टुकड़ा आकर उसके सिरपर खट्से बोला।

खेलमें नया लुत्फ़ आ गया—हालाँकि चोट ज़रूर आयी होगी। वाह, यह भी तो एक खेल है! इसलिए कई बार उसने टुकड़ेको अपने सरपर झेलनेकी कोशिश की—इसमें होशियारीकी बात यह थी कि टुकड़ा इतने ऊँचे भी न जाय कि लौटकर बहुत ज़ोरसे लगे और इतने नीचे भी न रह जाय कि अपनी चालाकी पर स्वयं ग्लानि हो।

मैं यह सोच रहा था कि इससे भी यह बच्चा ऊबा तो क्या खेल ईजाद करेगा—कहीं टुकड़ेको फेंक न दे और बाक़ी

लड़कोंके साथ कोई पिटा हुआ साधारण-सा खेल खेलने न लग जाय जैसे चोर-चोर : तब तो मुझे उस बच्चेसे बड़ी निराशा हो जायेगी। इतनेमें उसने कुछ किया जिसे देखकर तबीयत ख़ुश हो गयी।

किसी क्वार्टरमें कोई मेहमान कारपर आये थे। कार वहीं खड़ी थी। वह कारके सामने खड़ा हुआ और लकड़ीको उसने निशाना साधकर कारके पार फेंका। बहुत सन्तुलनकी आवश्यकता थी, इतने ही ज़ोरसे फेंकना था कि लकड़ी कारके ठीक पिछाड़ी ज़मीनपर गिरे—यह नहीं कि बहुत दूर निकल जाये। उसे इस हाथ तौलनेमें मज़ा आने लगा। मज़ेका खेल था ही। इधरसे वह फेंकता फिर दौड़कर उधरसे उठा लाता।

अचानक उसे ध्यान आया कि आगेसे पीछे फेंकनेके अलावा टुकड़ेको कारकी चौड़ाईके पार भी फेंका जा सकता है—यानी जिधर दरवाज़े होते हैं उधरसे दूसरी तरफ़ जहाँ दरवाज़े होते हैं।

इसलिए अब यह होने लगा। मैं बोर हो रहा था—हालाँकि होना मुझे नहीं चाहिए था—क्योंकि खेलके इस नये सुधारमें बच्चा एक नयी दूरीके लिए नये सिरेसे हाथ साध रहा था। पर एक बार ऐसा हुआ कि इधरसे फेंककर जो वह उधर उठाने गया तो लकड़ीका टुकड़ा ग़ायब था।

उसने आस-पास सब जगह खोजा। बजरीपर। घासमें। कारके नीचे झाँककर देखा। पाससे गुज़रनेवाले बच्चोंको ताड़ा··पर लड़का तेज़ था, अचानक उसे जाने क्या समझमें

आया कि वह कारके सामने आया और बफ़रपर पैर रखकर ऊपर चढ़ने लगा।

बफ़रसे हेडलाइटपर और हेडलाइटसे वह हुडपर आ गया। हुडपर खड़े होकर उसने ताली बजायी और थोड़ा-सा कूदा भी, सम्हालकर। लकड़ीका टुकड़ा कारकी छतपर निश्चिन्त रक्खा हुआ था।

उसने हाथ बढ़ाकर देखा, हाथ छोटा रह जाता था। अब आगे चढ़नेमें हिम्मतकी ज़रूरत थी—मगर हिम्मत उसमें थी सो वह ढलुवाँ विण्डस्क्रीनपरसे छतपर चढ़ गया। मुझे उसकी गोरी-गोरी टाँगों और कत्थई जूतोंको विण्डस्क्रीनपर फिसलते देखकर ख़ूब हँसी आयी। बच्चेने अपना खिलौना उठाया और फिर हुडपर वापस आ गया।

धूप बड़ी प्यारी थी। हल्की-हल्की हवा थी जैसे धूपको उड़ा ले जायगी। हर चीज़ चमक रही थी और हरियाली ख़ास तौरसे। वह बिना धारियोंवाला लाल ऊनी निकरवाकर पहने हुए उस बड़ी भारी ऊँची मशीनपर खड़ा था और धूपमें उसका गोरा रंग, भूरे बाल और भोली आँखे तसवीर जैसी लग रही थीं। मुझे तो वह दूरसे यों प्यारा लग रहा था, पता नहीं उसे क्या इतना अच्छा लगा कि वह हुडपरसे उतरा ही नहीं, ऊँचेपरसे मैदानको देखता रहा जहाँ और बच्चे खेल रहे थे। लकड़ीका टुकड़ा और उसके सीधे-सादे खेल उसे भूल गये थे।

लड़ंके

दो भाई लड़ रहे थे ।

बड़ा छोटेको घिर्राता हुआ बड़ी दूर तक घासमें ले गया : वहाँ जाकर छोटेने बड़े ज़ोरसे चीख़ मारी––"छोड़ दे, आः !" बड़ेने घबराकर उसे छोड़ दिया । दूसरे क्षण कूदकर छोटेने बड़ेके दो घूँसे जमाये और दोनों फिर गुत्थमगुत्था हो गये ।

कुबेरिया थी । मैं मैदानमें चित पड़ा हुआ था । जब ये दोनों लड़ते-लड़ते मेरे पास आ जाते तब कुछ मुझे भी सुनायी पड़ जाता––"मार डालूँगा साले"···"तेरी ऐसी कम तैसी"··· "हूँ और ले, और ले" ···फिर घमाघम दो तीन घूँसे ।

शाम होती जा रही थी । आख़िर ये कब तक लड़ेंगे यह सोचकर मैंने दोनोंको डपटकर बुलाया । उस वक़्त छोटा बड़ेकी गरदनसे लटककर, और पैरोंसे उसकी कमरको जकड़कर उसकी नाक दाँतसे काटने ही वाला था : वह वैसे ही रह गया । उसे लटकाये-लटकाये बड़ा मेरे पास आ खड़ा हुआ ।

मैंने छोटेको हुक्म दिया, "उतर !"

वह बोला, "नहीं उतरूँगा, ये मारेगा ।"

अब बड़ेसे यह कहलवाना कि नहीं मारूँगा कोई आसान काम नहीं था । वह बड़ा होकर मार खा गया था, और खिसियाहटकी उस अवस्थाको पहुँच गया था जहाँ किसी भी प्रकारकी

क्षमा दुर्बलता प्रतीत होने लगती है। उसने पैर पटककर घोषणा की, "पतंग मेरी है।"

इस पर छोटा कूदकर उतर पड़ा। बोला, "मेरी है"

"धत्! तेरी है, लाया कौन था जाकर ?"

"तो इससे क्या हुआ ? अधन्ना किसने दिया था ?"

"और इकन्नी किसने दी थी ?"

यह तो अच्छी बात थी कि लातोंसे अब वे बातों पर आ गये थे, मगर मेरी समस्या यह थी कि अगर छः पैसेकी पतंगमें एक आना एकका और दो पैसे दूसरेके हैं तो बिना यह हिसाब करे कि किसने पतंगको कितनी देर तक उड़ाया और किसने कितना मज़ा लूटा यह तय करना लगभग असम्भव था कि पतंग किसके क़ब्जेमें जाय।

मैंने अक़्ल लड़ायी और सवाल किया, "डोर किसकी थी ?"

मगर इससे समस्या और उलझ गयी क्योंकि डोर एक तीसरे लड़केकी थी। ग़नीमत हुई कि वह यहाँ था नहीं।

मैंने अचानक निर्णय किया और बड़ेसे कहा, "इसे दे दे पतंग।"

बड़ा कुछ सौम्य स्वभावका था इससे मेरा आदर करता था पर आज्ञा पालन करनेके पहले उसने विद्रोह किया, "हाँ! इसे क्यों दे दूँ ? इकन्नी मैंने दी थी।"

"हाँ, और अधन्ना किसने दिया था ?"

बड़ी मुश्किल थी। मैंने छोटेको समझाया कि तुम छोटे हो इसलिए तुमने अधन्ना दिया सो ठीक ही किया, मगर बड़े दद्दाका

कहना मानना चाहिए और ज़िद नहीं करनी चाहिए। बड़ेको समझाया कि छोटे भाईसे कहीं लड़ते हैं, और तुम बड़े हो, तुम्हें तो इकन्नी देनी ही चाहिए थी। अब पतंगके पीछे तुम लड़ोगे तब तो हो चुका।

इसपर छोटेने अपनी नुकीली ठुड्डी बाहर फेंककर और आँखें नचाकर पूछा, "क्या हो चुका?"

मैंने गम्भीर होकर कहा, "चुप। जाओ, लड़ो नहीं : पतंग अलग रख दो, कल उड़ाना।"

इसपर दोनों ओरसे जवाब आया कि कल दूसरी पतंग लायेंगे, उसे उड़ायेंगे।

"यानी कल फिर झगड़ा करोगे?" मैंने उन्हें ज्ञान दिया, "क्या ज़रा-सी बातपर झगड़ते हो, मान लो पतंग फट जाती तो उसका क्या होता?"

मुझे क्या मालूम था कि इस सूक्तसे सब समस्या सुलझ जायेगी। दोनों उछल पड़े और मैंने तो समझा था कि फिर गुँथ जायेंगे पर दोनोंने किलकारियाँ मारीं, "फाड़ डालो, पतंगको फाड़ डालो।"

यह विचार बड़ा ध्वंसात्मक था, पर मैं टोकता रह गया और वे दोनों ऊँची घासकी तरफ़ भागे जहाँ पतंगको उन्होंने सहेजकर रख छोड़ा था। पतंग लाकर बड़ेने उसमें अपना पंजा घुसेड़ दिया। दोनों शोर मचा रहे थे जैसे किसी गढ़पर धावा बोल दिया हो। छोटा आते हुए पीछे रह गया था, वह दौड़कर आया और एक कोना जो साबुत बचा था नोचकर भागा।

मगर ज़रा दूर भागकर ही वह लौट आया और कूदकर उसने बड़ेकी पीठ पर एक घूँसा दिया और इस बार बड़ी ज़ोरसे, जिधर मुँह था उधर ही भाग चला।

बड़ेका चेहरा तमतमा आया। पर उसने दाहिने हाथसे पतंगकी चिर्रीबत्ती पकड़े-पकड़े बायेंसे पीठ सहलायी और मेरी ओर मुसकराकर कहा, "अ हा हा हा, ज़रा देखिए, इतना तेज़ भाग रहा है जैसे मैं इसको पिछुआऊँगा ही तो।"

सेब

चलती सड़कके किनारे एक विशेष प्रकारका जो एकान्त होता है, उसमें मैंने एक लड़कीको किसीकी प्रतीक्षा करते पाया। उसकी आँखें सड़कके पार किसीकी गतिविधिको पिछुआ रही थीं और आँखोंके साथ, कसे हुए ओठों और नुकीली ठुड्डीवाला उसका छोटा-सा साँवला चेहरा भी इधरसे उधर डोलता था। पहले तो मुझे यह बड़ा मज़ेदार लगा, पर अचानक मुझे उसके हाथमें एक छोटा-सा लाल सेब दिखाई पड़ गया और मैं एकदम हक्से वहीं खड़ा रह गया।

वह एक टूटी-फूटी परेम्बुलेटरमें सीधी बैठी हुई थी, जैसे कुर्सीमें बैठते हैं, और उसके पतले-पतले दोनों हाथ घुटनोंपर रक्खे हुए थे। वह कमीज़-पैजामा पहने थी, कुछ ऐसा छरहरा उसका शरीर था और कुछ ऐसी लड़कौंधी उसकी उम्र थी कि मैं सोचमें पड़ गया कि यह लड़का है या लड़की। लड़की होती तो उसपर दो पतली-पतली चोटियाँ बहुत खिलतीं : यहाँ वह झबरी थी। पर तुरन्त ही मेरे मनने मुझे टोका—भला यह भी कोई सोचनेकी बात है, क्योंकि उस बच्चीमें कहीं कोई ऐसा दर्द था जो मुझे फ़ालतू बातें सोचनेसे रोकता था।

यह बिलकुल स्वाभाविक था कि मैं पास जाकर बड़ी शराफ़तसे पूछता "क्या बात है बेटी, तू इतनी घबरायी हुई क्यों है ? तुझे यहाँ कौन छोड़कर चला गया है ?" पर वह न उतनी

घबरायी हुई थी और न उसे वहाँ कोई छोड़कर चला गया था क्योंकि उसके चेहरेपर एक गहरी आशाकी दृढ़ता थी, यद्यपि वह आशा इसी बातकी थी कि उसका बाप अभी आ जायेगा। इसलिए मैंने पूछा नहीं, पर थोड़ा और पास आकर उसे देखता रहा। मुझे डर था कि प्रैमको हाथ लगाते ही वह रो पड़ेगी, लेकिन एक बार मन हुआ कि उसे ज़रा-सा और पीछे हटाकर फ़ुटपाथ पार कर दूँ : डीज़ल–इंजिनवाली भौंड़ी बसोंकी दहशत मेरे दिलमें बचपनसे बैठी हुई है : पर फिर यह सोचकर रुक गया कि हालाँकि कोई ड्राइवर कम कुशल होता है कोई ज़्यादा और कोई अपनी बीबीको पीटता है कोई नहीं, पर ऐसा कोई नहीं होगा जो उसे बचाकर नहीं निकल जायेगा।

लड़कीने एक बार मुझे बड़ी घृणासे देखा फिर अपने बापको देखने लगी। वह सड़कके पार ज़मीनपर कोई चीज़ ढूँढ़ रहा था। मुझे देखकर वह शायद मनमें हँसना चाहती थी कि आप यहाँ खड़े क्यों संवेदना लुटा रहे हैं पर वह बहुत कमज़ोर थी और उसके चेहरेपर भाव एक अजीब लक्षणाके साथ आते थे जैसे कमज़ोर व्यक्तियोंके आते हैं और इसलिए उसका चेहरा और सख़्त हो गया। अब सोचता हूँ कि उसने अपना ध्यान तुरन्त मुझपरसे हटाकर खोयी हुई चीज़के मिल जाने पर लगा दिया होगा।

यह स्वाभाविक ही था कि मैं अपमानित अनुभव करता कि मैं तो—जैसा कि मुझे बचपनसे सिखाया गया है दुखी जनोंके प्रति आर्द्र होना—उसपर तरस खा रहा हूँ, और वह मेरी अन-देखी कर रही है, परन्तु मुझे इसमें कोई अपमान नहीं मालूम

हुआ क्योंकि मुझे उसका स्वाभिमान अच्छा लगा। इस बार मैंने ग़ौर किया तो दिखा कि वह बहुत मैले कपड़े पहने थी : कमीज़के कालरपर मैलकी लहरदार धारियाँ थीं मगर चेहरा साफ़ था जैसे उसका बाप लड़कीको मुँह धुलाकर बाहर ले गया हो। लगता था जैसे धुलकर उसका मुँह और भी निकल आया है। कमीज़-पर उसने स्वेटर पहन रक्खा था जो चिपककर बैठता था; पूरी बाँहकी कमीज़ थी, कफ़के बटन बाक़ायदा लगे हुए थे और इस बार मैंने ग़ौर किया तो दिखा कि कलाइयोंमें बहुत-सी नयी चूड़ियाँ थीं।

मैंने सोचा संसारमें कितना कष्ट है। और मैं कर ही क्या सकता हूँ सिवाय समवेदना देनेके। इस ग़रीबकी यह लड़की बीमार है, ऊपरसे कुछ पैसे जो अस्पतालकी फ़ीससे बचाकर ला रहा होगा, उन्हींसे घरका काम चलेगा, यहाँ गिर गये। किसी गाड़ीसे टक्कर खा गया होगा। वह तो कहिए कोई चोट नहीं आयी वरना बीमार लड़की लावारिस यहाँ पड़ी रहती, कोई पूछने भी न आता कि क्या हुआ। मैंने सचमुच उसके बापको वहींसे आवाज़ दी, "क्या ढूँढ़ रहे हो ? क्या खो गया है ?"

उसने वहींसे जवाब दिया, "कुछ नहीं, गाड़ीकी एक ढिबरी गिर गयी है।"

उसकी खोज ख़तम हो गयी थी। वह बिना ढिबरीके इधर चला आया। उसके साथ मैंने परेम्बुलेटरके नीचे झाँककर देखा—जहाँ गाड़ीकी बॉडी और धुरीका जोड़ होता है, जहाँ धुरी हिलगी रहती है; वहाँका एक बोल्ट बिना नटके था।

मैंने सोचा, बस ! मगर इसे ही काफ़ी अफ़सोसकी बात होनी चाहिए, क्योंकि एक तो गाड़ी वैसे ही ढचरमचर हो रही थी, ऊपरसे इस नटके गिर जानेसे वह बिलकुल ठप हो जायेगी, क्या कहावत है वह—ग़रीबीमें आटा गीला—कितना दर्द है इस कहावतमें, और कितनी सीधी चोट है : आटा ज़रूरतसे ज़्यादा गीला हो गया और अब दुखिया गृहिणी परात लिये बैठी है : उसे सुखानेको आटा नहीं है। यानी आटा है मगर रोटियाँ नहीं पक सकतीं।

मैंने अपनी तार्किक चतुराई दिखायी, पूछा, "मगर ढिबरी गिरी कहाँ थी ? क्या तुमको ठीक मालूम है यहीं गिरी थी ?

लड़कीकी मरी-मरी आवाज़ आयी "गिरी तो यहीं थी, अभी मुझे दिखाई पड़ रही थी, अभी एक मोटर आयी उससे वह छिटककर उधर चली गयी।"

मोटरके गुदगुदे पहियेसे छोटा-सा नट छिटककर कहाँ जाता, पर वह लड़की अपने स्वास्थ्यसे दुःखी थी इससे उसका यह ग़लत अनुमान मैंने क्षमा कर दिया और सड़कके पार गया : उसी जगह मैंने भी ढिबरीको खोजा।

जब ख़ाली हाथ मैं लौट कर आया तो बापने कहींसे एक छोटा-सा तारका टुकड़ा खोज निकाला था और बड़ी दक्षतासे बोल्टको छेदमें बैठा रहा था और उसे बाँधनेकी कोशिश कर रहा था। गाड़ीको उसने ज़रा-सा हुमासा तो लड़की जाने क्यों खिसिया गयी, पर जैसा कि मैंने पहले बताया, उसके चेहरेपर भाव वैसे नहीं आ सकते थे जैसे तन्दुरुस्त बच्चोंके आते हैं,

इसलिए उसने जल्दीसे अपने बापका कन्धा पकड़ लिया और नीचे झाँकने लगी–जैसे अपनी गाड़ी ठीक करनेमें मदद देना चाहती हो।

मैंने पूछा, "अब कैसे जाओगे ? ऐसे तो यह ठीक न होगी ?"

बापका मुँह दाढ़ी-भरा था और जबड़ा चौड़ा था। उसने गाड़ीके नीचे मुँह डाले-डाले खुरदुरी आवाज़में जवाब दिया, "चले जायेंगे।" और लड़कीसे कहा, "बेटे, तू तनिक उतर तो आ ?"

बेटीने बापके कन्धेपर एक हाथ रक्खा, एकसे अपने सेबको कसकर पकड़े रही और नीचे उतरकर गाड़ीसे कुछ दूर हटकर खड़ी हो गयी। मैं बहुत द्रवित हो उठा। बिचारी बीमार है : इसे शायद सूखा हो गया है—या तपेदिक़ : इससे कम इसे कोई बीमारी होनी ही नहीं चाहिए, और वह खड़ी भी नहीं रह पायेगी, काँपती रहेगी : कहीं गिर न पड़े। हे भगवान्, जल्दीसे बोल्टमें तार बँध जाये।

मगर लड़की सीधी खड़ी रही। सिर्फ एक बार उसने नाक सिड़की। बीच-बीच अपने नंगे पैरोंको देखकर पंजे सिकोड़ती रही और अधीरतासे गाड़ीकी धुरीको देखती रही : यह तो स्पष्ट था ही कि वह अपने बापकी कारीगरीसे बहुत प्रभावित हो उठी है। वह बहुत दुबली थी, छड़ी-सी, और साँवली थी, एक नये प्रकारका सौन्दर्य उसमें था, वह जो कष्ट उठानेसे आता है। पर फिर मेरे मनने मुझे फ़ालतू बातें सोचनेसे रोक दिया।

मैंने पूछा, "यह बीमार है ?"

बापने लड़कीको पुकारा, "आ बेटे, बैठ जा, ठीक हो गयी।"

धीरे-धीरे चलकर अपने ढीले पैजामेको समेटकर लड़की परेम्बु-लेटरमें चढ़ रही थी, तभी मुझे गाड़ीके पेंदेमें एक छोटी-सी ढिबरी पड़ी दिख गयी। झट उसे उठाकर मैंने बापको दिया, "यह कैसी है, इससे काम नहीं चलेगा ?"

"ओ नहीं जी, ये तो बहुत छोटी है। वो तो मैंने बना लिया जी।"

मैं अपनी करुणासे परेशान था। फिर मैंने पूछा; "इसे क्या हुआ है ?" और उसके दुखी उत्तरके लिए तैयार हो गया। मैंने सोचा था कि जब वह कहेगा, साहब मर्ज़ तो कुछ समझमें नहीं आता किसीके, तो डाक्टर हुक्कूका नाम सुझाऊँगा।

बाप हँसकर बोला, "अब तो ठीक है यह, इसे मोतीझाला हुआ था बहुत दिन हुए, तबसे कमज़ोर बहुत हो गयी है। सुइयाँ लगती हैं इसे।"

गाड़ी चूँ-चूँ करके चलने लगी थी। अब लौंडियाको शरम लगने लगी कि इतनी बड़ी होकर प्रेममें बैठी है।

"कहाँ रहते हो ?"

"यहीं, सरकंडाबाज़ारमें।" और अपनी मांसल बाँह उठाकर उसने सरकंडाबाज़ारको इंगित किया जो सामने धूपमें चमकता दिख रहा था।

मुझे कुछ न सूझा तो पूछा, "वहाँसे रोज़ यहाँ तक आते हो ? तब तो बड़ी तकलीफ़ उठाते हो।"

वह हँसा तो नहीं, पर कुछ ऐसे मुसकराया जैसे कह रहा हो कि अपनी करुणाका श्रेय लेना चाहते हो तो हमारी व्यथाको क्यों अतिरंजित कर रहे हो। मैंने यह भी पूछा था, "सुइयोंमें तो बड़ा ख़रचा होता होगा।"

वैसे ही उत्तर आया, "कोई छब्बीस लगवा चुका हूँ, अभी कोई ख़ास फ़ायदा नहीं है। धीरे-धीरे होगा। ३ रु० ६ आ० की एक लगती है।"

अब भी मैं और कुछ पूछना चाहता था क्योंकि मेरा मन कह रहा था कि मेरा काम अभी ख़तम नहीं हुआ। मगर मैं यह भी देख रहा था कि उस लड़कीकी व्यथा कितनी सादी थी, मामूली थी; कोई ख़ास बात थी ही नहीं। मैं समवेदना दे सकता था तो अधिकसे अधिक देना चाहता था; इसलिए मेरे मुँहसे निकला "घबराओ नहीं ठीक हो जायगी लड़की।" अब सोचता हूँ कि बजाय इसके अगर मैं पूछता, आज कौनसा दिन है, तो कोई फ़र्क़ न पड़ता।

बापने मानो मुझे सुना ही नहीं। लड़कीने अपने सेबकी तरफ़ देखा, पूछा, "बप्पा ?" बापने बड़े प्यारसे मना कर दिया।

बीमार लड़की धैर्यसे अपने सेबको पकड़े रही। उसने खानेके लिए ज़िद नहीं की। चमकती हुई काली-सफ़ेद चूड़ियोंसे उसकी कलाइयाँ ख़ूब ढँकी हुई थीं। मुट्ठीमें वह लाल चिकना छोटा-सा सेब था जो उसे बीमार होनेके कारण नसीब हो गया था और इस वक़्त उसके निढाल शरीरपर ख़ूब खिल रहा था।

मैं जल्दी-जल्दी चलकर आगे निकल आया। अब मैं वहाँ बिलकुल फ़ालतू था।

उमसके बाहर

एक भारी आसमान खेतपर पाटरी-वर्क्सकी चिमनियोंके सहारे खड़ा हुआ था और उसके सफ़ेद गोल-गोल बादल क़ायदेसे सजे हुए थे। कितना अवास्तविक था या कितना अधिक वास्तविक था—इतना कि मैं उसे स्वाभाविक नहीं मान सकता था। वह एक तरहसे सुन्दर था पर उसमें कोई करुणा नहीं थी।

पानी बरस चुका था। वर्षा थम गयी थी—जैसे यही अब उसके लिए उचित हो। वातावरणमें एक आभा आ गयी थी—एक औसत साधारण रोशनी जिसमें मैं बाहर आ गया; मैंने मान लिया था कि मुझमें एक घुटन है और वह बाहर भी है। उस समय तेज़ चलते रहना ही एक उपाय था और मैंने खेतकी ओरकी सड़क पकड़ ली।

अब पहलेसे अच्छा था। चलना सहायक था, क्योंकि मैं एकरस काली सड़कको अनवरत पैरोंके नीचे जल्दी-जल्दी छूटते देख रहा था। मैं जाना नहीं चाहता था, सिर्फ़ चलना चाहता था, चलना, चलना और चलना, जिसका अन्त भी अभीसे निश्चित नहीं करना चाहता था। जानता हुआ कि कहीं रुकूँगा या कहींसे लौटूँगा, उस चरम क्षणको उसके अपने आविष्कारके लिए छोड़ देना चाहता था।

सड़क आगे घूमकर जो कोना बनाती थी वह कच्ची मिट्टीका एक छोटा-सा एकान्त मैदान था—अहा। मैंने उसे पार करनेका

निर्णय कर लिया। चक्कर काटकर सड़क-सड़क नहीं जाऊँगा, जल्दी-जल्दी नहीं, धीरे-धीरे, गीली कच्ची मिट्टीमें पैर रक्खूँगा। शुद्ध मटमैले पानीमें छपसे पाँवका निशान बनाते हुए, अनजानी गीली मिट्टीमें उत्सुकतासे, न जानते हुए कि पैर कितना धँसेगा और रपटनमें वज़न तौलकर। मिट्टी साफ़ थी, प्रकृत, और कहीं-कहीं केवल नम, और मेरी ऊबको तोड़ रही थी। जागती मुसकराहटकी तरह मैदान इधर-से-उधर फैला हुआ था—उसमेंसे रास्ता बनाये जानेके लिए और चलने वालेको आनन्द देनेके लिए। नीचे देखते-देखते मैं उसमें चला।

चलते-चलते हलकी-सी सिहरन होने लगी। ख़ुश होकर मैंने सिर उठाया और ठगा-सा खड़ा रह गया।

कुछ सूखी ज़मीनके एक ऊँचे टुकड़ेपर दो नन्हें-नन्हें जूते रक्खे हुए थे--साफ़-सुथरे किरमिचके छोटे-छोटे जूते, रंगीन और कम पहने हुए। उस ज़मीनके इधर-उधर थोड़ी-बहुत घास थी, बहुत ऊँची नहीं, पर ताज़ी उगी हुई, गझिन और मटमैले पानीमें आधी डूबी हुई। एक छोटा-सा पानी भरा गढ़ा था और दूर तक चिकनी साफ़ गीली मिट्टी···

तब हवा चली और पानी भरे गढ़ेमें उसके अनुपातके बराबर लहरें बन गयीं।

कितना सुन्दर था और कितना विचित्र, पर सुन्दर अधिक, नहीं, ठीक उतना ही विचित्र जितना सुन्दर हो सकता है, ज़्यादा नहीं कि अद्‌भुत हो जाय। मैंने ग़ौरसे देखा—हाँ, दो साफ़-सुथरे प्यारे-प्यारे रंगीन जूते, जैसे दो गोरे-गोरे नन्हें-नन्हें पाँव इनमेंसे

अभी कूदकर भाग गये हों। उतारकर खेलमें होश न रहा होगा, भूलकर घर दौड़ा होगा—पानीमें छप-छप करता हुआ, कितनी दुलार-भरी आजिज़ीसे बुलाया गया होगा।

मैंने एक क्षण इस चित्रको कल्पनाओंमें घुल जाने दिया, पर फिर सहसा सामने देखा—ऊँची मिट्टीपर वे सजे हुए-से रक्खे थे, सुरक्षित और सूखे, स्पष्ट जैसे अभी बोल पड़ेंगे।

जी कड़ा करके मैंने कहा, नहीं, मैं जाऊँगा। अब मेरा जाना और ज़रूरी हो गया है। धीरे-धीरे वह मैदान पार करके मैं सड़कके किनारे चला आया। हाँ, ठीक है, यही ठीक है, मैंने कहा। अनजाने ही में पेड़से मैंने एक सूखी टहनी तोड़ ली और चलते-चलते उसकी नोक नम मिट्टीमें छुवाकर ठहर गया। टहनीसे मुलायम ज़मीनपर मैंने कोई लाइन खींच दी—हाँ, ठीक है, यही ठीक है। मिट्टीका खुरचना और उसके नीचेसे और साफ़ मिट्टीका निकल आना कितना सुखकर था। मैंने कहा, मैं जान रहा हूँ कि मैंने क्या किया है। मैं चला आया हूँ, जानकर, और यह जानना अच्छा है।

अचानक मैंने देखा, मैंने दो पत्तियोंकी तस्वीर खींच दी है, और देखो, वह भी सुन्दर है, बिना मेरे चाहे हुए। अचानक उसके लिए मनमें कितना मोह हो गया है।

बस दिखायी देने लगी; ठीक, एक बार मैंने तस्वीरको टहनीकी नोकसे छुआ, यही ठीक है; अब मैं अपने लिए कुछ दोहरा सकता हूँ। जानेसे पहले मैं इस तस्वीरको मिटा दिया होता क्योंकि मैं उसे उठाकर नहीं ले जा सकता था। उन प्यारे

जूतोंको, उस मधुर विस्मयको ले जा सकता था, पर मैं चला आया हूँ। यह चित्र यहीं रह सकता है, ऐसा ही बे-मतलब और सुन्दर जैसा वह मेरे बिना चाहे बना है। इससे मुझे कोई मतलब नहीं कि कब तक और किनके लिए या उनके लिए किस तरह। मैं कोई कलाकार नहीं हूँ और मेरा अंकन सम्पूर्ण नहीं है, पर मेरे अंकनका सम्पूर्ण होना महत्त्वका नहीं है—अब मैं यह भी जानता हूँ कि उस निराले ढूह पर वे मुन्ने-मुन्ने जूते वहीं हैं, अपने चारों ओरके बीच एक अर्थ रखते हुए, और मैं चला आया हूँ। मैंने उन्हें वहाँ नहीं सजाया था और उनकी कोई कहानी ज़रूर होगी चाहे वह मेरी जानी न हो पर मैंने भी कुछ रचा है और वास्तवमें उसी क्षण रचा है जिस क्षण मैं चला आया हूँ। न, मुझे भय नहीं है कि उन्हें कोई फेंक देगा या चुरा लेगा। देखो, कितना सुन्दर था वह जो मैंने पाया और मैं चला आया हूँ और मैं दुःखी नहीं हूँ।

मुक्तिका एक क्षण

वह कबूतर आज फिर आ गया। कितना बुरा हुआ। मैं आपको उसकी कहानी सुनाना चाहता था; अब मेरी कहानी न बन सकेगी। आज फिर आकर वह कलकी कहानीमें जुड़ गया है। अब भी शायद उसने कोई कहानी बना दी होगी, पर वह मैं अभी जानता नहीं।

मेरे कितने पास आ गया है, इसे डर नहीं लगता! चाहूँ तो हाथ बढ़ाकर पकड़ लूँ। फिर उसे लिये हुए नीचे जाऊँ, जहाँ औरोंके साथ मेरे वह मित्र होंगे जिन्हें मैंने कल अपनी कहानी सुनायी थी—कैसा लगेगा उन्हें, मेरे हाथमें यह कबूतर देखकर—जैसे कलका एक स्वप्न, शोरशरब्बेकी दुनियासे दूर जो एकान्तमें कहीं घटित हुआ था, और स्वप्नकी ही भाँति जो अविश्वसनीय था, सहसा साकार हो उठा है।

तब फिर, मुझे ही क्यों, क्यों, इसकी पुनरावृत्ति एक हानि जैसी लग रही है, जैसे इसने मेरा कुछ छीन-सा लिया है।

पर यह कितना सुन्दर है, और ठीक कल जैसा सुन्दर है—इसमें कमी नहीं है। भरा-पूरा कबूतर है, जवान। चकर-मकर करती हुई गरदन, जैसे गुटरगूँ-गुटरगूँ कर रही हो; सफ़ेद रंग कुछ मैला हो गया है; क्या ऐसा तो नहीं कि पंजेमें जो चोट है उसकी वजहसे इसे घोंसलेमें बहुत दिन पड़े रहना पड़ा हो? कलके उन दानोंको, जो इसने छोड़ दिये थे, चुग रहा है। एक

पंजेके बल फुदकता है, यह देखकर तकलीफ़ होती है, पर सचमें मैं नहीं जानता कि उसे भी हो रही है या नहीं।

कल वह अचानक फुर्रसे मुँडेरपर आ बैठा था; गरदन घुमा-घुमाकर उसने चारों ओर देखा था—अच्छा ! यह जगह है ? मैं चने चबा रहा था, तो उसको भी मैंने थोड़ा-सा फेंक दिया। वह उतरकर छतपर आ गया। चुगने लगा। खायेगा। आधी मुट्ठी मैंने छतपर छिटका दी। एक दानेसे दूसरे तक फुदकना मुश्किल होगा, एक पंजा बेकाम है और लुंज-सा लटका हुआ है, यह सोचकर आधी मुट्ठी मैंने एक जगह कुरै दी। यह आसान था। एक दाना चुगता, चारों ओर देखता। चारों ओर ताकने के लिए ही शायद कबूतरकी गरदन इतनी लोचदार बनायी गयी है—क्योंकि आँखोंसे वह दायें-बायें ही देख सकता है।

चुगते-चुगते वह हाथके बहुत पास आ गया। पकड़ लूँ ? पकड़ लूँ तो अभी सिमट जायेगा और गरदन कन्धोंमें धँसाकर टुकुर-टुकुर दायें-बायें देखने लगेगा। उसका स्पर्श ! चिकने परोंके अन्दर सिमटा हुआ स्पन्दित, एक गरम पिंड ! जैसे हाथमें उसके प्राणोंकी ही उष्णता अनुभव हो रही हो ! कितना सुन्दर पक्षी है यह, जिसका धड़कता हुआ प्राण उसके शरीरसे इतने सन्तुलित अनुपातमें है।

कल्पना ही में मैंने उसे छोड़ दिया। क्यों पकड़ लूँ ? क्योंकि इतने पास है और निरीह है इसलिए मेरे प्रेमकी अभि-व्यक्ति और हो ही क्या सकती है ? मेरे इतने पास आकर चुग रहा है तो यह मेरे लिए गर्वका विषय होना चाहिए—पर

नहीं—क्यों ? क्या इसलिए कि मैं ऐसा हूँ कि यह मुझसे भय नहीं करता ? वह नहीं कर रहा है तो यह उसकी निजी सम्पत्ति है जो मुझे दे रहा है और मैं कृतज्ञ हूँ—नहीं कृतज्ञ भी क्यों हूँ—यदि पक्षियोंने भय करना सीखा है तो जिनके कारण सीखा है उनका उत्तरदायी मैं नहीं हूँ : यदि इसने भय नहीं किया है तो मैंने भी न भय किया है न भयभीत किया है। न यही अनु-गृहीत है—क्योंकि इसने न अपनी मुक्ति मुझसे पायी है न अभय माँगा है।

अंग-अंगमें शक्ति देती हुई धूप जहाँ कबूतर चुग रहा है वहाँको और यहाँको, जहाँ मैं बैठा हूँ, छाये हुए है, और वह कबूतर वहाँ है। वह वहाँ बड़ी देरसे है। मैं उसे देरसे देख रहा हूँ। मैं प्रतिकृत हूँ।

छतपर बिलकुल एकान्त है। कोई नहीं है। सहसा लगता है कि सिर्फ़ हम दो हैं, एक मैं और एक कबूतर। वह आज फिर आ गया है। वही है वह। क्या मुझे चीन्हता है ? पर क्यों चीन्हे, मुझे ही क्यों चीन्हे, शायद छत चीन्हता हो ? पर वह भी क्या ज़रूरी है, क्या वह आज फिर उसी सहज भावसे नहीं आ सकता जिससे कल आया था ? इसमें उसे क्या बाधा हो सकती है ? छतपर बिलकुल एकान्त है, और मैं भी तो यहाँ उसी क्षण वर्तमान हुआ जिस क्षण आज वह धूपमें उतरकर एक पंजेके बल आ बैठा।

वह फुदक-फुदककर चल रहा है। जिधर जाना चाहता है उधर जा रहा है। बिलकुल स्वाधीन भावसे कुरसीके नीचेसे निकल जाता है। कलके दो-एक दाने मिल गये हैं।

सामनेवाले कोनेमें पहुँच गया। वहाँ चारो ओर देखता है—टुकुर-टुकुर। क्या उसने लक्ष्य किया है कि कोई यहाँ है? वह ख़ास तरीक़ा जो कबूतरोंको आता है, गरदन टेढ़ी करके देखनेका, उससे मेरी तरफ़ आँख करके देख रहा है। देखा? वह इतना स्वतन्त्र है कि अपनी तरफ़से मुझे हँसा भी सकता है। यह खिलौने-जैसी आँख पहले भी देखी है, शायद खिलौने ही में—पर यहाँ एक सजीव प्राणी है, और जिधर चाहता है उधर देख रहा है, यानी उसका अपना अहं भी है। अब छत पारकर दूसरी ओर गया—फिर इधर मुँह घुमाया—कुछ देखने क़ाबिल नहीं। फिर सूरजकी तरफ़ मुँह किया। हाः गरम है। हूः सबेरे कड़ाकेकी ठंढ थी। अब वहीं बैठा है। कुछ नहीं कर रहा है, सिर्फ अपना लूला पंजा लटकाये, वही कर रहा है जो उसके लिए स्वाभाविक है—गरदन चक्कर-मकर करके चारों ओर टुकुर-टुकुर ताक रहा है, जैसे गुटरगूँ-गुटरगूँकी आवाज़ कर रहा हो।

कल उसे पहली बार देखा था। धड़कते हृदयसे देखा था, क़रीब-क़रीब मेरे हाथसे ही वह दाने चुग गया था। एक बार ज़रूर उसने शक किया था, मगर मेरे लिए भी तो इस तरह उठना-बैठना मुश्किल था कि वह शक न करे, क्योंकि शक करने की बात ही क्या थी और मैं किसी इरादेसे थोड़े ही उठा था। बहरहाल, आज वह ग़लतफ़हमी दूर हो गयी है। और क्या मैं कह सकता हूँ कि कबूतर सुन्दर लग रहा है? मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि ऐसा कहनेमें कोई अनुग्रह नहीं है, कोई बन्धन नहीं है। वह मुझे अच्छा लग रहा है—बस इतना ही सच है। वह वहाँ थोड़ी दूरपर धूपमें है। वह है, और स्पष्ट है कि उसके

जानेका कोई कारण नहीं है इसलिए अच्छा है कि वह अच्छा लगता रहे और रहे। अहा! अच्छा ख़याल आया। आज भी वह शायद दाना खा सकता है—यानी अगर चाहे तो। ठीक। मैं ले आऊँगा, पर रुकना पड़ेगा। मैं जाकर ले आऊँगा, तब तक रुक सके तो रुके, पर हमलोग बिलकुल स्पष्ट कर लें—वह मुझे अच्छा लगता है और आज भी उसके लिए मैं दाना ला रहा हूँ, दुनिया इसको एक सम्बन्ध मान सकती है और गल्प-साहित्य इसको मनुष्य और पक्षियोंके प्रेमको एक सच्ची घटना भी कह सकता है। पर यह कोई अनुग्रह नहीं है, न कोई बन्धन है। यहाँकी धूप सुखद है और इस छतका अपना एक एकान्त है, उसको न आप तोड़ें न हम, और सच इतना ही रहने दें कि यह समय बहुत सुन्दर है।

एक छोटी-सी यात्रा

थका और उलझा हुआ मैं बसमें चढ़ा जो दौड़नेको एक पैर आगे बढ़ाये खड़ी हाँफ रही थी, और एकदम आगेकी सीटकी ओर ढकिल गया : वैसे ही मैं बैठा भी होऊँगा क्योंकि उस समय तक मैं कुछ नहीं जानता था—सिवाय एक चले जानेकी इच्छाके और उसका भी चारों ओरसे कोई सम्बन्ध न था। यह स्वाभाविक ही रहा होगा क्योंकि आजका दिन ही ऐसा बीता था। बार-बार मनुष्योंके बीच मैं गया था और हर बार ऐसा ही अनुभव हुआ था जैसा तपते हुए उजाड़में प्रतीक्षा करनेसे होता है; इसलिए अब, जब मैं जाना चाह रहा था, मैं अच्छी तरह जानता था कि मैं भाग नहीं रहा हूँ, सिर्फ़ जा रहा हूँ और किसीकी वजहसे नहीं, बल्कि अपनी तरफ़से और अपनी ही इच्छासे।

लेकिन बैठकर मैंने देखा : यह तो एक और प्रयत्न है, फिर किसी तरहका सम्पर्क करनेका। एक बार फिर अपनेको जोड़ता हूँ। इस बार स्त्रियों और पुरुषोंके किसी सम्पुजनसे नहीं, आधुनिक जीवनके उस अवसरसे जो व्यस्त नगरके एक स्थानसे दूसरेको वेगसे जानेमें मिलता है।

अचानक शामका अख़बार आ गया। खिड़कीसे झाँककर देखा—भुलभुल मिट्टीपर पाँव बदलते हुए चार-पाँच छोकरे शोर मचा रहे थे। देखते-ही-देखते एक फ़िज़ूल-सी मार-पीट शुरू

हो गयी। बाढ़की उमरके एक लम्बोतरे लड़केने एक छोटे बच्चेकी गरदनपर रद्दा दिया और उसे पीछे ढकेलकर टाँगसे वहीं रोक दिया, तब गरदन फुलाकर कनकनाती हुई आवाज़ लगायी—'ईवनिं न्यूज़्।' छोटेवालेने रुआँसे होकर एक बार छूटनेके लिए ज़ोर मारा, फिर लम्बेकी कमरमें पंजे गड़ाकर उसे पीछे खींचने लगा।

फ़ौरन मैं इस स्थितिसे सम्पृक्त हो गया। यहाँ कुछ घटना हो रही थी और मैं प्रच्छन्न रूपसे उसका एक अंग था—क्योंकि मैं अख़बार ख़रीदना चाहता था। मुझे अच्छा लगा कि मैं किसी-में योग दे रहा हूँ और मैंने उत्सुक होकर खिड़कीसे अख़बार लेने भरको हाथ निकाल दिया।

यह नयी बस बहुत ऊँची थी। खिड़कीसे मैं वह ऊँचाई अनुभव कर सकता था। लम्बेने सफ़ाईसे मोड़कर एक अख़बार मेरे हाथपर रक्खा और एक व्यावसायिक गर्वसे बोला, यह लीजिए साहब। उसका हाथ खिड़की तक ख़ूब आसानीसे पहुँच जाता था।

पर मैं, जैसा कि मेरे लिए अनिवार्य था, इस स्थितिमें अपनी ओरसे शामिल हो रहा था, इसलिए अपने निर्णयका अधिकार मेरा था। मैंने निर्णय किया कि क्या बुरा है क्या अच्छा और लम्बे लड़केको दयापूर्वक ऐसे देखा जैसे मुझे उसकी हरकत बिलकुल न जँची हो। मुझे साफ़ दिखाई दिया कि वह अपमानित हुआ है और यही मैं चाहता भी था क्योंकि मेरी समझमें मैं अपना योग इसी तरह सबसे ज़्यादा ईमानदारीसे दे सकता था।

पर उसने कड़ककर कहा--'ईउनिं न्यूज़्' तुरन्त ही जवाब-में एक महीन आवाज़ आयी—'ईउनिं न्यूज़्'—और छोटे लड़केने छूटकर पंजोंके बल खड़े होकर किसी तरह अख़बार खिड़की तक पहुँचा दिया। शाबाश। मुसकराकर मैंने ले लिया। उसकी ओर प्यारसे मैंने देखा, उसकी हिम्मत बढ़ानेके लिए। ख़ूब, लड़का बहादुर है। पर वह स्वीकृतिमें मुसकराया नहीं, न उसने गर्वसे सीना ताना, घबराकर बोला, बाबूजी, जल्दी दे दीजिए नहीं तो बस चल देगी।

निस्सन्देह, पैसे तुम्हें निश्चय ही दिये जायेंगे। आख़िरकार अख़बार मैंने ख़रीदा है। और इस अख़बारके पैसे तुम्हारी गाढ़ी कमाई हैं। कहीं अधन्ना निकल आये तो कितना अच्छा हो क्योंकि बड़े सिक्केकी रेज़गारी तुम्हारे पास शायद ही निकले। इस जेबमें नहीं है, उसमें इकन्नी है, दोअन्नी है पर अधन्ना नहीं है। ख़ैर। बड़प्पनके एक क्षणमें मैंने इकन्नी निकालकर दी और सोचा कोई हर्ज नहीं जो यह पैसे न दे पाये और बस चल दे।

बस चलनेके पहले काँपने लगी। वह अपनी जेब खँखोड़ रहा था और मेरी ओर परेशान होकर देखे जा रहा था। मैं इस कहानीके नायककी भाँति उसके छोटेसे मुँहकी ओर प्यारसे देखकर मुसकरा रहा था और उस क्षणको अपनी ओर आता देख रहा था जब मैं पुचकारकर कहूँगा, कोई हर्ज नहीं बेटे, अधन्ना तुम रख लो, ठीक है न? तुम छोटे हो, कमज़ोर हो। क्या मैंने देखा नहीं अभी किस तरह तुम दबाये जा रहे थे? पर तुम लड़ सकते हो और मैं यह पसन्द करता हूँ। तुम ईमान-दार हो, मेहनती हो, तुमने मेरी सहानुभूति सचमुच ही अर्जित

की है, इसलिए मैं अपनी जगहसे जो कुछ कर सकता हूँ कर रहा हूँ। भुलभुलमें खड़े हुए ऐ छोटे बच्चे, रख लो, तुम दो पैसेके लिए परेशान न हो। वास्तवमें तुम नहीं समझ सकते कि मैं अन्दर ही अन्दर तुम्हारी कितनी इज़्ज़त कर रहा हूँ, तुम जो कि अपनी मेहनतकी कमाई खाते हो—शायद खिलाते हो—बूढ़े बाप, माँ, ग़रीब बहन...

मन ही में मैं उपकारके सुखसे विभोर हो उठा। लड़केको देखा, उसकी नाक फूलती जा रही थी और आँखें मींच-मींचकर वह जेबमें बार-बार हाथ घुसेड़ता था। मैंने उसकी परेशानीको फिर पसन्द किया और सोचा, कितना सुपात्र है यह मेरी इस उदारताके लिए।

बस चल दी। कृपाके एक चरम वैभवमें मैं मुसकराया : कितना शालीन होगा वह क्षण जब मैं न पैसे मागूँगा न वह दे पायेगा और मेरे प्रति एक विशिष्ट अनुभवकी स्मृति लिये हुए वह वहीं रह जायेगा और मैं चला जाऊँगा, प्रतिकृत और अपने में एक बार फिर सम्पूर्ण।

बच्चा मुँह बाये मुझे देखता रह गया। मैं सोच ही रहा था कि इस समय मुसकराना मेरे गुप्तदानके प्रतिकूल तो नहीं होगा कि किसीने खिड़कीपर हाथ मारकर मुझे बुलाया। वह लम्बा वाला लड़का था—अब मैंने देखा कि दुबला भी बहुत था—कह रहा था, अपने पैसे लेते जाइए जनाब।

वह चार क़दम बसके साथ-साथ दौड़ा, फिर सहसा निस्तेज होकर मैंने उसके हाथसे एक मैला-सा अधन्ना ले लिया।

मेरे अन्दर कुछ वापस आने लगा। एक क्षण मैंने विरोध किया पर फिर आने दिया। वह शान्तिदायक था।

अख़बार मोड़कर मैंने गोदमें रख लिया और चुपचाप अपनेको ढीला छोड़ दिया, वही उचित था, श्रेयस्कर था। चुपचाप वह लौटना मैं स्वीकार करता रहा : वह विश्वासप्रद था, किसी क़दर पहचाने हुए रास्ते-सा था।

आहिस्ते, लेकिन सफ़ाईसे बस मोड़ ले रही थी : तनिक सिर घुमाकर मैंने देखा, लम्बेने छोटेकी जेबसे सब पैसे निकालकर हथेलीपर फैला रक्खे थे और उसमें-से दो पैसे ढूँढे जा रहे थे।

जब मैं बिलकुल लौट आया तो फिर मुसकरा रहा था, पर इस बार वह मेरी, बिलकुल अपने लिए, मेरी मुसकान थी; दरअसल किसीको उसका दिखायी देना इस बार ज़रूरी न था। बसने रफ़्तार पकड़ ली थी और हवा ताज़ी थी जिसमें मैंने लम्बी साँस ली और धन्यवाद दिया कि मैं बच गया। जब मैं जाना चाह रहा था तो शायद वहाँ नहीं जाना था जहाँ उस अख़बार वालेको दो पैसे बख़्शते हुए मैं जानेवाला था : अब मैं वापस आ गया था पर उस उजाड़ एकान्तमें नहीं जहाँ मनुष्योंसे मिलना प्रतीक्षा करने जैसा लगता है।

इन्द्रधनुष

वह घोर ग़रीबीका एक दिन था। थोड़ी देर हुई उसने मुझे एक साथ मुक्त और निरुपाय कर दिया था और चिन्ताएँ न्यून-तम ही नहीं रह गयी थीं बल्कि जिन भौतिक आवश्यकताओंकी वे चिन्ताएँ थीं वे भी सहसा मुझसे अलग हो गयीं थीं, उतनी ही अनिवार्य पर मेरे अस्तित्वमें बिना तनिक भी हस्तक्षेप किये हुए। मैं उठा और किताबोंकी अलमारीके पास गया जिसपर जानी-पहचानी पीठोंकी पंक्तिके सामने कुछ पैसे रक्खे हुए थे। मैंने उन्हें गिना और न देखते हुए कि ये कितनेसे कम हैं और कितनेसे ज़्यादा, घरसे निकल पड़ा।

सीढ़ियोंपर एक आभा थी, उससे होकर जब मैं सार्वजनिक मैदानमें आया तो तेज़ रोशनीमें ऊँची घास, जगह-जगह जिसमें फटे काग़ज़ और फेंके चिथड़े अरझे हुए थे, लगभग काली दिखाई दे रही थी : उसको एक जोखिम उठानेके-से आनन्दसे रौंदता हुआ मैं सड़कपर पहुँचा और बजरीपर चलने लगा।

एक निरन्तर आवाज़ मेरे चलनेसे हो रही थी। मैं उसे सुनता गया, सुनता गया और अचानक मुझे लगा कि अब नहीं सहा जायेगा : अपने अन्दर एक लम्बे समयसे जिस चीज़से मैं लड़ता आ रहा था वह इसी सड़कपर मुझे दबोच लेगी और फिर यह संघर्ष ख़त्म हो जायेगा। सचमुच तब रखने लायक़ कुछ न बचेगा क्योंकि मुझे जो आशा थी वह उससे नहीं थी जो मेरे

पास था; मेरे साहसका स्रोत कहीं मुझसे बाहर, मेरे आगे और मुझसे ऊँचे था और उसको पा लेना ही मेरा संघर्ष था। टूट जाने दूँ उस तनावको जिससे मैं अपने और अपने आदर्शके बीच स्थिर हूँ? कितनी शर्मकी मौत होगी पर कितनी आसान और निश्चित जिसमें मेरा कुछ नुक़सान नहीं है; कोई न जानेगा कि मैं कैसे मरा और इस सड़कपरकी दुर्घटनासे लौटकर मैं फिर स्वीकार कर लिया जाऊँगा···उस ग़रीबीके साथ जो तब एक रोचक विशेषता बन चुकी होगी।

न। इस तरह नहीं और इतनी जल्दी भी नहीं। वापस आ जाऊँगा, मैंने अपनेसे चीख़कर कहा और ऊपर देखा : हो सकता था कि कोई चीज़ मैं न देख पा रहा होऊँ।

आसमानमें कुछ हो रहा था। इस बीच एक बहुत असाधारण बादल घिर आया था और इस तरहसे अपनेको खोल और समेट रहा था कि मैं उसे देख लूँ। बरसेगा, मैंने कहा।

कीचड़भरी पिछवाड़ेकी गलीमें दीवालसे सटे-सटे मैं जाने लगा। थोड़ी दूरपर, मैं जानता था कि बाज़ारके बीचवाला खेल-का मैदान है और पक्की सड़क भी वहींसे मोड़ लेती है : साफ़ हवा वहाँ होगी और गलीमें दोनों ओरके मकान जिस धूपको बेवक़ूफ़की तरह न इधरसे आने दे रहे थे न उधरसे, वह, मैंने कल्पनामें देख लिया, असंख्य झिलमिलाहटोंकी एक चादर बन गयी होगी···अगर हवा ज़रा-सी तेज़ होगी तो उसमें लहरें पड़ती भी देखी जा सकेंगी और एक बहुत बड़ा आकाश होगा, बादलोंसे ज़मीन तक पूर्ण, जैसे कि वह हमेशा रहता है, इस बार तने हुए बरसते पानीसे।

वह दृश्य गलीसे निकलते ही वहाँ था···ठीक वैसा जैसा मैंने सोचा था।

पानी ज़ोरका पड़ने लगा और एक-एक मेरा दृश्य दूर जैसे एक अपनी दुनियामें चला गया। कितना सुन्दर था, पानीको धारण करती हुई दूर तक फैली हरी धरती और मुझसे अलग। तुमने मुझे अकेला रहने दिया है मैंने कहा, और कितना अकेला मैं हूँ।

पानी और ज़ोरसे आया और झिलमिलाती रोशनीकी चादर डूब गयी। धूपका एक खण्ड जो तिरछी धारोंके सहारे खड़ा था गिर पड़ा और वातावरणमें एक उत्तेजना आने लगी जैसे कुछ विकसित हो रहा हो। मैं देखता रहा, इस बार बिलकुल न जानते हुए कि अब क्या होगा।

अचानक पानी बन्द हो गया : वह आवाज़ जो लोगोंके और पानीके बीच निरन्तर वर्तमान थी बुझ गयी और धूप फिर निकल आयी और ऐसा लगने लगा जैसे विकासका एक वृत्त पूरा हो गया हो।

लगभग फौरन भीड़ बिखरने लगी। तुम लोग कितने अधिक हो, अलग-अलग व्यक्ति, और जो यह अभी हुआ है इसने तुम सबको मुक्त कर दिया है, मैंने कहा।

किसीको यह समझनेकी फुरसत न थी। पर क्या हुआ कि तुम नहीं जानते, मैंने कहा, देखो थोड़ी देर पहलेसे तुम कितने भिन्न हो; पानीके बरसते वक्त़ तुम एकत्र हो गये थे और पानीके बाद तुम अलग-अलग हो गये हो और अब समूहमें और नहीं हो।

किसी रंगीन दुकानसे दो औरतें निकलीं और तेज़ीसे एक ओर निकलती चली गयीं···अपनी साधारणतया स्त्रियोचित चाल-का एक द्रुततर छन्द बनाती हुई···ग़ौर करनेपर देखा जा सकता था कि उसकी मौलिक ताल क्या है : मैंने देखा और आनन्द देते हुए उन्हें दूर तक चलते चले जाने दिया।

जैसे ही मैंने बिसातीका बरामदा पार किया लड़कोंका एक झुण्ड उड़ता हुआ पीछेसे आया और मुझे बीचमें छोड़ते हुए दो तरफ़ बँटकर आगे निकल गया; वहाँ वह एक लड़केके चारों ओर गोल शकल बनाकर स्थिर हो गया।

गलीमें पानी भरा था। उसमें किसीने ईंटे रखकर रास्ता बना दिया था और एक काला-कलूटा लड़का जो इसी सालसे स्कूल जाने लगा था एक ईंटपर दोनों पैरसे खड़ा होकर दूसरी-पर जानेका इरादा कर रहा था। मैं उसकी ईंटपर ज़रा-सी जगह लेकर आगे निकल गया, उसने कोई ख़याल न किया। बहुत अच्छे, मैंने कहा, मुझे यह पसन्द आया। अगर तुम मुझे नहीं देखते तो मैं मान लेता हूँ कि मैं तुम्हारे अनुभवमें दख़ल नहीं दे रहा हूँ जो तुम्हें अभी ज़रा देर पहले, मेरे साथ, पानी बरस जानेके वक़्त हुआ है।

दूकानोंके बाद चौड़ी, दूर तक जाती हुई सड़क थी। जहाँसे सड़क शुरू होती मालूम होती थी वहाँ मकानोंकी एक लम्बी धुली हुई क़तार थी और उसके बाद आसमान था, पहलेसे भिन्न, पर उतना ही दूर।

मैं वापस चला। दो छोटी लड़कियाँ चकर-चकर बात करती हुई मुझसे आगे निकल गयीं। उनकी बातें समझनेकी कोशिश

करना बेकार था; वे इतनी ख़ुश थीं कि किसी दूसरेकी समझमें आनेवाली बातें कर ही नहीं सकती थीं। वे मुझसे बहुत आगे निकल गयीं और मैं एक क्षणके लिए खिला हुआ वहीं ठिठक गया।

अचानक मैंने देखा सड़कके अन्तपर मकानोंके समूहसे लेकर दूर, मेरे पीछे तक एक इन्द्रधनुष खिंच गया है।

दोनों लड़कियाँ चलती गयीं और इन्द्रधनुष एक बड़े भारी खुले दरवाज़ेकी तरह उनके रास्तेके अन्तपर खुला रहा।

एक आदमी अपने बच्चेको उँगली पकड़ाये मेरे पाससे गुज़रा और चलता गया। मुझे कोई एतराज़ नहीं, मैंने कहा, क्योंकि तुम ख़ुश हो और अकेले रह सकते हो।

इसपर बच्चेने बापके हाथसे उँगली छुड़ा ली और ठुमकता हुआ आगे भागा जैसे किसीने चाभी भरकर उसे चला दिया हो।

बाप लपककर उसके बराबर हो लिया और दोनों चुपचाप चलते गये; सीधी सड़कपर छोटे होते हुए दूर तक मैं उन्हें देखता रहा जैसे कि वे इन्द्रधनुषके नीचेसे गुज़र जायेंगे।

तब मैंने एक बार फिर देखा कि मैं कितना अकेला हूँ पर कितना सुखी। ये लोग सुखी हैं, मैंने कहा, जो मेरे पाससे गुज़रते जा रहे हैं और मुझे नहीं देखते, और यह इन्द्रधनुष सुन्दर है जिसके नीचेसे ये लोग गुज़र जायेंगे।

अब मैं उस मैदानमें आ गया था जो पहले धूपमें काला दिख रहा था और अब हरा और चमकीला हो गया था। कितना ठीक, मैंने कहा और मेरे मनमें कुछ भरने लगा। हवा चली, वह

साफ़ थी और बहुत बड़े मैदानमें उसने मुझे चारों तरफ़से घेर लिया।

यही मैं हूँ जैसा कि इस हवाने मुझे परिभाषित कर दिया है, मैं बच गया हूँ और मैं टूटा नहीं हूँ : मैं वापस आ गया हूँ सुरक्षित और सुन्दर और नये सिरेसे सम्पूर्ण, मैंने कहा, और मैं कृतज्ञ हूँ इस अनुभवके लिए। किसके प्रति, इसका प्रश्न नहीं है क्योंकि और किसीका इस अनुभवमें मेरे साथ हिस्सा ही नहीं है।

सीढ़ियोंपर आधी दूर आकर मैं रुक गया। न, अभी नहीं, अभी कुछ है जो बिलकुल मेरा है और उसके साथ मैं घर नहीं जाऊँगा। दोनों हाथके सामानको मैंने सीनेसे लगा लिया और दीवालसे टिककर इन्तज़ार करता रहा। मैं कृतज्ञ हूँ, सचमुच कृतज्ञ हूँ, चीख़कर मैंने कहना चाहा। मैं नहीं चाहता कि कोई जाने कि इस समय मुझमें क्या हो रहा है, पर हो रहा है, मैंने कहा, और फूट-फूटकर आँसू आँखोंसे बहने लगे।

ठीक, मैंने कहा, यहीं खड़े रहो जबतक यह आनन्द सम्पूर्ण न हो जाये।

एक नयी लहर आयी और छोटी-छोटी होकर बिखर गयी। एक बार, बार-बार नये आँसू फूटकर बहे जब तक कि सब धुल न गया। सधे हुए क़दम रखकर मैंने बाक़ी ज़ीना तय किया और दरवाज़ेके सामने मुसकराता हुआ खड़ा हो गया।

उसने दरवाज़ा खोला और वे शब्द जो वह दरवाज़ा खोलने-पर मानो हमेशा कहती है मैंने स्पष्ट सुने। वह मुसकराहट भी

नहीं थी और हँसी भी नहीं, बल्कि उसका अपना स्वागत था जो उसके चेहरेपर आया और मैंने सिर उठाकर उससे आँखें मिला दीं। तुम ख़ुश हो, पर तुम नहीं जानती कि अभी क्या हुआ है, मैंने कहा।

अन्दर आकर मैंने हाथकी चीज़ें मेज़पर रख दीं और उसके पीछे-पीछे कमरेमें चला गया। मैं हलका हो गया था पर थोड़ी देरके लिए कोशिश करके यह अनुभव करते रहना चाहता था कि मेरे हलके हो जाने और बोझ रख देनेमें कोई सम्बन्ध नहीं है।

स्वच्छ और शान्त वह बैठकर अपने साधारणसे काममें लग गयी और मैं घुटनोंके बल उसके सामने बैठ गया। उसने मेरी भीगी आँखोंको देखा, पूछा, क्या हुआ।

बहुत कुछ, मैंने मनमें कहा, और तुम कितनी सुन्दर हो, पर एक शब्द भी मैं बोलूँगा नहीं क्योंकि जो भी कहूँगा अप्रासंगिक होगा। न जो कुछ फूटकर बहा है उसे तुम्हारी ख़ातिर छिपाऊँगा।

मैंने झुककर उसके सीनेपर सिर रख दिया। देखो, मैं वापस आ गया हूँ और टूटा नहीं हूँ। उसके गोरे सीनेपर सोनेकी माला थी जो गलेके चारों ओर घूम गयी थी जैसे एक कहानी पूरी हो गयी हो। मैंने उसपर एक हाथ रख लिया और उसकी ज्योतिमें आँखें बन्द कर लीं।

उसने अपने हाथका काम रख दिया और मुझपर हाथ रखकर पूछा, क्या हुआ ?

नहीं, मैंने कहा, कोशिश मत करो, ऐसी ही रहो जैसी तुम हो सुन्दर और उज्ज्वल और विना वह जानते हुए जो मेरे अन्दर हुआ है। तुम नहीं जानती हो कि मैं किस तरह टूटनेसे बच गया हूँ, पर तुम सुन्दर हो और क्या यह काफ़ी नहीं है, उतना ही जितना कि मेरा कृतज्ञ होना है। पूछो मत, न मैं बताऊँगा और न तुम्हें जाननेकी ज़रूरत है क्योंकि इस समय तुम ऐसे ही सुन्दर हो, अकेली और विना जाने हुए और विना जाननेकी कोशिश किये हुए कि मेरे अन्दर क्या हुआ है।

एक जीता-जागता व्यक्ति

अक्सर मेरा मित्र टोका करता, "क्या देखा करते हो सड़क-पर चलते हुए।" कुछ नहीं, दिखायी देता है, इसलिए देखता हूँ। "और मैं समझता हूँ कि कोई चीज़ देखते चलते हो कि पड़ी मिल जाये तो उठा लूँ।"

"हाँ, शायद यह इरादा रहता है, इनकार नहीं कर सकता। पर ताज्जुब है कि आजतक कुछ उठाकर ला नहीं पाया। वास्तव-में सड़कपर तमाम लोग..."

"बेशक, सबके सामने तुम्हारी हिम्मत ही न होगी, और जिसने पहले देखी होगी वह तुम्हें क्यों हाथ लगाने देगा।"

"जी नहीं", मैं हँसा, "लोगोंको लो..."

"अच्छा", उसने आँख मारी, "आप कोई जीती-जागती चीज़ घर ले जायेंगे"

"नहीं नहीं", मैंने कहा, "लोगोंको ही देखो, क्या यह कुछ कम रोचक है कि कितनी भीड़ है और सब अपने-अपने रास्ते जा रहे हैं और किसीको परवाह नहीं है कि मैं क्या कर रहा हूँ क्योंकि मैं उन्हें देखता हूँ पर हस्तक्षेप नहीं करता। देखो न, इस तरह मुझे भी औरोंके साथ एक अस्तित्व मिल जाता है और वे सब ज़्यादासे ज़्यादा स्वतन्त्र रहते हैं क्योंकि कमसे कम दख़ल देते

हैं···" फिर अपनी बात सरल करनेके लिए मैंने कहा, "मेरा मतलब है यह मुझे अच्छा लगता है।

"हूँ, अहं, अहं, सिर्फ़ अहं", उसने कहा, "अपने आपको जाने क्या समझते हो"

"ठहरो, यह देखो यह देखो", मैंने पैर टेककर साइकिल रोक ली। वह कुछ दूर आगे जाकर रुका। सिर घुमाकर बोला, "अमाँ पा गये कुछ ?"

वह एक आधी घरेलू चिड़िया थी, गौरैया कदापि नहीं, उससे कुछ ज़्यादा रंगीन मेलकी, जिसकी पीली चोंच होती है और पीले पंजे, काला सिर और कत्थई देह होती है। मुझे मालूम नहीं वह पिड़कुलिया है या देसी मैना, पर इस मनःस्थितिमें उसे कभी नहीं देखा था जिसमें वह इस समय थी।

मित्र बोला, "यह यहाँ क्या करने आ गयी ?" जैसे यह उन्हींकी ग़लती हो और अब उन्हें सहानुभूतिके लिए मजबूर होना पड़ रहा हो।

चिड़िया विना पर खोले हुए ही फड़फड़ायी। उसने शरीरका बोझ एक बार इधर, फिर उधर डाला और दम लेने लगी। कोलतारके एक कीचड़में वह फँस गयी थी। बनती सड़कके लिए बजरीका एक ढेर पास ही लगा था, उसपर पाँच-छः कौए और-और तरफ़ देखते हुए बैठे थे।

मित्र साइकिल घुमाकर पास आया, "साले, अभीसे जमा हो गये ? अमाँ मरने तो दो किसीको चैनसे।"

क्या सचमुच चिड़िया मर रही थी। मर जाती। तारकोल बहकर वहाँ जमा हो गया था, उसपर धूल जम गयी थी और

अनजानेमें उसपर वह उतर पड़ी थी। काफ़ी देरसे वह छुड़ा रही होगी तभी कौओंने देखा होगा—उड़ नहीं रही है तो खाद्य है।

सूरज डूब रहा था। ढलुआँ सड़कपर झुण्डकी झुण्ड मशीनें आदमियोंको लेकर पीली रोशनीमें पैठी जा रही थीं। हमलोग जहाँ खड़े थे वहाँ यातायात ऐसा हो गया जैसे बहते पानीमें कहीं कोई टहनी अटक जाये तो वह भँवर बना ले।

"ज़रा किनारे हो लें", मैंने कहा, "नहीं नहीं, इधरसे नहीं, चिड़ियासे और दूर जाकर फ़ुटपाथ पार करेंगे।" मित्रने घूरकर देखा। हमलोग बिलकुल हाशियेपर जाकर खड़े हो गये पर वहाँ भी चिड़ियासे क़रीब उतनी ही दूर थे।

चिड़ियाके लिए कोई उम्मीद न थी। एक पंजा ज़रा-सा हुमसता तो दूसरी ओर ज़ोर पड़ता और वह फिर फँस जाती। चौंककर देखती और फिर इधर-उधर बदनको झटके देती और पंख न खोलती—शायद पंख खोलनेसे पंजे और धँसने लगते हों—लेकिन उसका कलेजा मुँहको आ जाता।

मित्रने कहा, "देखो यार, बिलकुल आदमियोंकी तरह कर रही है।"

छुड़ा दूँ, मैंने सोचा। इसमें सोचनेकी क्या बात है? पर क्या वह ख़ुद कोशिश नहीं कर रही है, उसे अपने आप करने न दूँ। मैं समझ सकता हूँ कि ख़ुद कोशिश करनेका क्या अर्थ होता है और सहानुभूति एक जगह अनादर भी बन जा सकती है। वह इस समय एक महत्त्वपूर्ण संघर्ष कर रही है जैसे

उसने ज़रूरी समझा है और जैसे वह ही कर सकती है। उसे करने दूँ? अन्ततक ले जाने दूँ?—जैसे उसे सुखकर होगा।

"मूर्ख", मित्र बोला, "उसे छुड़ा क्यों नहीं देता? अहंवादी लोग दूसरोंको सताये बिना रह ही नहीं सकते।" उसने साइकिल दीवारके सहारे छोड़ दी और ख़ुद आगे बढ़ा। मैंने रोक लिया, "रहो रहो। अपने अहंको थोड़ा और रोक रक्खो", मैंने उससे मनमें कहा। वह रुक तो गया पर एक पत्थर उठाकर उसने कौओं-पर फेंका: जिसे लगनेवाला था वह फुदककर किनारे हो गया, उसने इधर देखा तक नहीं।

न चिड़िया ही हमारी तरफ़ देख रही थी। उसने कौओंकी ओर भी न देखा था, यद्यपि उनका होना वह जानती थी। वह डरी हुई थी, पर उसका डर एक परिस्थितिगत वास्तविकता थी: धीरे-धीरे वह उसके समकक्ष आ चुकी थी। स्पष्ट देखा जा सकता था कि उसकी कोशिश सिर्फ़ छूटकर उड़ जानेकी है, कौए हैं तो हैं, और वे उसके फँस गये होनेकी स्थितिका एक अंग ही हैं।

-तो क्या मैं छुड़ा दूँ। इसमें सोचना क्या है। पर वह अपने-को छुड़ा लेगी, निश्चय ही छुड़ा लेगी। वह आख़िरकार मिट्टीकी नहीं है, भुसभरी भी नहीं है, और यहाँ उसके संघर्षमें क्या है जो मैं तरस खाते हिचकिचाता हूँ?

फिर भी, फिर भी, फिर भी···सहसा और देखते रहना असम्भव हो गया। आख़िरकार मैं उससे बड़ा और ज्यादा ताक़त-वर था। मैं आगे बढ़ा।

पहली बार चिड़ियाने मुझे देखा। जिस तरह वह अभी तक नहीं करना चाह रही थी वैसे पंख फटफटाकर अपनेको हुमासने

लगी। एक क़दम मैं और आगे बढ़ा और मनमें कहा, बस क्षण-भरमें सब हो जायेगा।

चिड़ियाने कातर आँखोंसे मुझे देखा। उनमें केवल अविश्वास था। उसने चोंच खोल दी और बुरी तरह डरकर वह छटपटाई।

मैंने कहा, मैं तुम्हें छुड़ाने आ रहा हूँ।

जकड़े हुए पंजोंपर उसका शरीर दायेंसे बायें पागलकी तरह डोलने लगा, जैसे कह रहा हो, नहीं, नहीं,

मैंने कहा, मैं तुम्हें आहिस्तेसे छुड़ा दूँगा।

उसने हाँफकर चोंच बन्द की और फिर खोली, कहा, नहीं, नहीं, मैं ख़ुद छूटनेको बेकरार हूँ।

मैंने कहा, ठहरो तो··· हालाँकि मैं जान गया था कि उसके सामने मैं कितना बेकार था। मेरे सामने वह सड़ककी भीड़का एक हिस्सा थी, जीता-जागता, जिसे पहले मैंने देखा था, पर उसका अपना अस्तित्व था जिसपर कोई हाथ नहीं डाल सकता था। मैं उसे केवल भयभीत कर सका था और मैं कुछ कर भी नहीं सकता था, पर उसने अपनी सारी ताक़त जुटा ली थी और यह सिर्फ़ वही कर सकती थी। मैंने मौन रहकर उसे आँखभर देखा : जैसे सम्मोहित होकर वह एक पल थिर आँखोंसे मुझे देखती रही, फिर काँपकर ऐसे फड़फड़ायी जैसे यह उसका आख़िरी फड़फड़ाना हो। फिर उसने पंख खोल दिये और उन्हें तान दिया। अचानक वह छूट गयी।

गज़ भर दूर उड़कर उसने धूलमें पंजे रगड़े और मकानोंकी

तरफ़ उड़ चली। कौओंमें-से एकने एक बार कैंव किया और फिर सब बजरीके ढेरपर बदहवासोंकी तरह फुदकने लगे।

मित्र बोला, "अमाँ जाओ, तुमसे कुछ नहीं हो सकता।"

रंगीन आकाश और डूबते सूरजकी तरफ़ बस्ती थी जिधर चिड़िया तैरती चली जा रही थी। उसपरसे दृष्टि उतारकर मैंने पूछा, "क्या ?"

वह बोला, "अमाँ हम तो ख़ुश हुए थे कि चलो तुम्हें कुछ मिल गया पड़ा हुआ।"

"हाँ, मिला तो था", मैंने कहा।

"मगर ?" उसने पूछा।

"मगर", मैंने कहा, "उसे तो चिड़िया अपने साथ लेकर उड़ गयी।"

मेरे और नंगी औरतके बीच

औरोंकी ही तरह मैं भी आमतौरसे किसी असाधारण व्यक्तिको देखकर प्रभावित हो जाता हूँ, पर कभी भी वह प्रभाव मुझे यह अनुमति नहीं देता कि उस व्यक्तिको एक चरित्र बनाकर प्रस्तुत कर सकूँ। ऐसा करना मेरे मनको उस व्यक्तिका सरासर अपमान करना जान पड़ता है। वह विचित्र है तो मुझे उसकी असाधारणताको किसी भावनासे देखनेका अधिकार नहीं है, न दयासे, न स्नेहसे, न क्रोधसे, न विरक्तिसे। उसके बाक़ी सबसे अलग होनेके तथ्यको स्वीकार करना ही या तो बाक़ी सबकी हीनताको या अपनी निजकी श्रेष्ठताको या दोनोंको घोषित करना है और यह मेरी मानवीयतामें शामिल नहीं।

हाँ, यह सम्भव है कि उसकी असाधारणताको मैं देखना ही न चाहूँ यानी उस वैचित्र्यको जिसे दुनिया देखेगी। जैसे कोई लूला है तो मैं यह न देखूँ कि उसके एक हाथ नहीं है बल्कि सिर्फ़ यह देखूँ कि वह एक आदमी है जिसके एक हाथका न होना ही उसके शरीरका एक अंग है और बाक़ी सब उसपर छोड़ दूँ। वह ख़ुद अपनेको कैसे देखता है या मैं उसे कैसे देखना चाहूँगा ये सब मेरे लिए अप्रासंगिक हो जायँ, नहीं, निश्चित रूपसे अपमानमूलक हो जायँ।

यह तो हुई मेरे कलाकारकी मान्यता, पर इससे अलग एक मेरी अपनी मान्यता भी है और वह यह है कि असाधारण व्यक्ति-

को साधारण करते समय जिस पद्धतिसे मैं गुज़रता हूँ उसे अपने लिए असाधारण रूपसे महत्त्वपूर्ण मानता हूँ; इसलिए कभी-कभी उसे याद रखनेकी भी कोशिश कर लेता हूँ। दुर्भाग्य कि बस वहींसे कहानी बननी आरम्भ हो जाती है।

इसी तरह उस रोज़ रातको भी हुआ। मैं हरगिज़ नहीं चाहता था कि कहानी लिखूँ, मैंने तो यह भी न चाहा था कि मैं यात्रा करूँ, और यह तो निश्चय ही है कि उसके मेरे सामने बैठे होनेमें मेरी इच्छाका हाथ बिलकुल न था।

हम दोनों आमने-सामने बैठे थे। मैं अकेला था सिवाय उस विशेष प्रकारकी गरमाईके जो जाड़ोंके मौसममें बहुधा काफ़ी दूरतक आदमीका साथ दिया करती है—गरमियोंमें मैं कम अकेला अनुभव करता हूँ : नग्न अकेला होनेके कारण अरक्षित रहता हूँ—पर इस बार वह गरमाई भी एक तनी हुई गरमाई थी, टूटने-टूटनेको नहीं, उस स्थितिमें पहुँचनेसे काफ़ी पहले, ठंडसे मिली हुई अरक्षाकी एक हल्की-सी भावना।

हम दोनों आमने-सामने बैठे थे। मैं अकेला था और देशी ढंगके गरम कपड़ोंके ऊपर मैंने भारी ओवरकोट पहन रक्खा था (मुझे हमेशा इस तरह ओवरकोट पहननेमें लगता है कि वह भी कोई देशी पोशाक है) पिछले तीन-चार सालसे कानों और पैरोंमें ज़्यादा ठंढ लगने लगी थी इसलिए मैंने एक मुलायम गुलूबन्द और हाथका बुना मोज़ा भी पहन रक्खा था जिसका रंग दुर्भाग्यसे हरा था (उस बेमेल मोज़ेको क्षमा करनेमें मुझे काफ़ी शक्ति लगानी पड़ी पर फिर अन्तमें वह मुझसे घुल-मिल गया)

मैं काफ़ी आरामसे था, इतना काफ़ी जितना कि एक हल्की-सी अरक्षाकी भावनाके निरन्तर रहते ही कोई हो सकता है : उससे कमसे कम एक अखण्ड प्रवाह तो रहता है।

अचानक मुझे अनुभव हुआ कि वह बिलकुल नंगी है। वह घुटनोंमें सिर देकर और इतना आगेको झुककर बैठी थी कि अगर नंगी न होती तो उस तरह बैठ ही न पाती। पहले तो लगा कि उसका सर-पैर ही नहीं है पर फिर मैंने देखा कि उसके सरपर छोटे-छोटे कतरे हुए बाल थे और वह नंगी नहीं थी, सिर्फ़ लगती थी जैसे कि अपनी उस स्थितिमें वही उसके लिए स्वाभाविक है।

वह बिलकुल स्थिर थी, काँप नहीं रही थी, न आसन बदल रही थी। मुझे लगा कि उसका वस्त्र और उसकी पीठ मिलकर एक हो गयी है : गहरे तक वह एक हो गयी है और उसका रूपाकार भी उसीकी देहमें घुलमिलकर उससे सम्पृक्त हो गया है।

पता नहीं क्यों मूर्खकी भाँति मैं आँखोंसे उसके उरोज खोजने लगा। (तब तक मैं यही समझता था कि स्त्रीका शरीर विना उनके पूरा नहीं होता) न, बहुत कोशिश करनेपर भी वह कल्पना मेरी आँखोंके सामने साकार न हो सकी जो मैं एक वस्तुके सम्मुख रहते हुए भी उसमें कर रहा था। स्त्रीके रूपसे रूढ़ अनेक प्रचलित चित्र मेरे मन तक आये पर दृश्य बन सकने की सामर्थ्य उनमें न थी। वही शरीर, वही ढेर, वही घुमाव और वही सन्तुलन मुझे अपने चारों ओरके आकाशमेंसे फूटकर निकला हुआ-सा दिखायी देता रहा। मैंने देखा कि मैं उसमें जो खोज रहा था वह पूर्णरूपसे निवार्य था, अनावश्यक था और स्पष्टतः व्यर्थ था।

(यहाँ मेरी कहानी ख़तम हो जानी चाहिए। पर तभी मेरे इन विचारोंको जड़से ढहाता हुआ एक रेला आता है और मैं एकाएक स्वीकार करता हूँ कि यह रूपाकार एक जीवित शरीर है– बल्कि मैं इसे यों देख ही इसलिए सका हूँ कि यह एक जीवित शरीर है—कुछ देरके लिए स्थिर, नींद और अपने रक्तके तापमें जड़, पर हिलकर नये रूपोंमें ढल जानेमें कभी भी समर्थ–शायद अभी इसी अगले क्षण। जो रूप मैं देख रहा हूँ वह कितना सशक्त हो उठा है, क्या इसीलिए नहीं कि वह मानव शरीरका आकार है ?)

अचानक उसे कोई गर्म कपड़ा उढ़ा देनेके लिए मैं छटपटा उठा।

ठीक, ठीक, ठीक, ठीक, मेरे तेज़ीसे धड़कते हृदयके साथ-साथ मेरी बुद्धिने कहा, तुम ठीक रास्तेपर ही हो। जो कुछ मैंने उस निश्चल रूपाकारमें देखा है वह मिथ्या नहीं है, और यह भी सही है कि वह स्त्री ठंडसे ठिठुर रही है। मैं उसे अपना कम्बल उढ़ा दूँ ?

हम दोनों फिर आमने-सामने बैठे हुए थे। इस बार वह घोर जाड़ेमें विना किसी दूसरे वस्त्रके ठिठुरी हुई एक स्त्री थी और मैं अपने कोटकी गरमाईमें लगभग सम्पृक्त एक पुरुष जिसके हृदयमें केवल एक इच्छा थी—या कि वह विचार था या भावना थी, नहीं जानता–पर जो कुछ थी वह एक थी 'उसे उढ़ा दूँ' 'अपना' कम्बल, यह मैंने बादमें जाना जब देखा कि अपना कम्बल मैं नहीं ओढ़े हूँ। बादमें मैंने यह भी जाना कि जिस इच्छासे समस्त शरीर और सम्पूर्ण मन एकाकार हो गया है और

जो मेरे जीवनके सम्पूर्ण अनुभवोंमेंसे सम्पूर्णतन है वह स्वयं अगर नहीं है—जिस क्षण उसे कार्यरूप मिलेगा वह क्षय हो जायेगी। पर मुझे वह अमर करेगी और मुक्त रक्खेगी और स्वयं मर जायेगी, मैंने सन्तोषसे कहा।

तभी मेरी सम्पृक्तिको टुकड़े-टुकड़ेकर डालनेवाली वह प्रक्रिया शुरू हो गयी जिसे आप मेरी कहानी कह सकते हैं—कैसे उसने पहले मुझे चकनाचूर कर दिया और फिर अन्तिम वारमें, जो कि मुझे बखेर दे सकता था उसने मुझे बिना एक भी जोड़ डाले फिर एक कर दिया।

अकृतज्ञकी तरह मैंने पूछना शुरू किया : मैं इसे कम्बल क्यों देना चाह रहा हूँ। क्या मुझे इसपर दया आ रही है क्योंकि इसके पास नहीं है और मेरे पास है? सावधान, मैंने अपनेको अपनी पिछली कहानियोंकी याद दिलायी—एक मानवको दूसरेपर दया करनेका क्या अधिकार है, प्यार मैं कर सकता हूँ पर क्या मैं सचमुच प्यार कर रहा हूँ दया बिलकुल नहीं? क्या मैं विश्वाससे कह सकता हूँ?

नहीं, मैं इसलिए दे रहा हूँ कि मेरे पास ख़ाली है और मैं दे सकता हूँ। पर वह कितना क्षुद्र कारण है और इस कारण से देनेसे अच्छा है न देना। कम-से-कम जहाँ तक मेरी आत्माका प्रश्न है ऐसे देने और न देनेमें कोई अन्तर नहीं।

पर ठहरो, इसीका क्या प्रमाण है कि उसे सर्दी लग रही है या इतनी सर्दी लग रही है कि वह तुमसे कम्बल लेना स्वीकार कर सकती है। क्या तुम्हारे और उसके कपड़ोंमें जो भीषण अन्तर है उसीसे तुम समझ रहे हो कि उसे सर्दी लग रही है?

शायद···जहाँ तक सिर्फ़ समझनेका सवाल है।

तब वह दो कपड़े पहने होती तो शायद तुम गरमाये बैठे रहते चाहे उसे सचमुच ठंड लगती रहती।

न···नहीं···पता नहीं।

और क्या दूसरे व्यक्तिको पूर्ण स्वतन्त्र मानते हुए भी तुम यह सम्भावना नहीं मान सकते कि बाहर सर्दी होते हुए भी उसे नहीं लग सकती है ?

हुँः। जो हो ! मेरे लिए सिर्फ़ यह महत्त्वपूर्ण है कि जो कुछ मैं अपने सम्पूर्ण शरीरसे अनुभव कर रहा हूँ उसे मुझे व्यक्त हो जाने देना चाहिए और मैं अनुभव कर रहा हूँ कि उसे उढ़ा देना है। मुझे इससे कोई सरोकार नहीं कि वह औरत कौन है क्या उसे सर्दी लग रही है और क्या वह मेरी सहायता अस्वीकार तो नहीं कर देगी।

सोच-समझकर कह रहे हो ?

हाँ !

तो जाओ, उढ़ा दो।

······पर कैसे ? इतने लोग हैं : सब देखेंगे कि मैं दे रहा हूँ और वह ले रही है और हमारा सम्बन्ध खुल गया है। यह मैं न होने दे पाऊँगा, न सह पाऊँगा !

सम्बन्ध ! कैसा सम्बन्ध ? तुमने इसे मुश्किलसे २० मिनट हुए तो देखा है।

वह तुम नहीं समझ सकते। तुम सिर्फ़ भाई-बहन, बुआ-चाची, भतीजा-दोस्तके सम्बन्धको जानते हो। मैं जानता हूँ कि

इस समय मेरा इसका एक सम्बन्ध है क्योंकि हम दोनों एक ही अनुभवके दो हिस्से हैं :

अनुभव क्या ! इसने तो तुमसे कुछ माँगा भी नहीं···

न मैंने ही पूछा है कि क्या तुम लोगी ! यही तो हमारा सम्बन्ध है !

यह कहकर मैंने विश्वासके साथ कम्बलको दोनों हाथोंसे कसकर पकड़ लिया। कसकर क्यों ? क्या मुझमें कोई अनिश्चय था ? कोई दुर्बलता थी ? मैंने वह तह किया हुआ भारी कपड़ा अपने पैरोंपरसे उठा लिया और उसे उस स्त्रीपर डालनेके लिए ऊँचा किया···

नहीं मैं किसीको यह देखने नहीं दे सकता, मेरे अन्दर कोई चीत्कार कर उठा। मैं अपने सम्बन्धको एक प्रचलित सम्बन्धके स्तरपर उतारे जाते नहीं देख सकता।

पर तुम स्वयं भी ऐसा नहीं कर रहे हो !

हाँ, मैं नहीं कर रहा हूँ पर जिस क्षण मैं अपना काम करूँगा वह ग़लत समझ लिया जायेगा।

मैल और तेलसे चिकनी सीटोंपर लोग सो रहे हैं या आधे जाग रहे हैं। एक खाता-पीता आदमी, जिसके चेहरेपर चर्बी बढ़ जानेसे अब उसपर कोई भाव नहीं आ सकता, उलपर लेटा मेरी तरफ़ देख रहा है। गाड़ीके चलनेसे उसका सिर हिलता है, हाँ-हाँ, उढ़ा दो, पुण्य होगा।

एक बढ़ी दाढ़ीवाला नौजवान, पानसे जिसके ओठ काले हैं, दोनों पैर सीटपर रक्खे ऊँघ रहा है। वह चौंककर देखता है

और फिर सो जाता है। सोतेमें वह मुसकराता है—औरतको देखकर दिल पसीज गया बाबूका ?

और बहुत लोग हैं इस डब्बेमें : सब एक दूसरेके साथ एक धुँधली रोशनीमें ऊँघते हुए और किसी भी नये संवेदनपर तुरन्त चौंक पड़नेको तैयार···

वायदा करो कि तुम चौंकोगे नहीं, मैं इस स्त्रीको यह कम्बल उढ़ा देना चाहता हूँ, मैं उसके तलुवों और कानोंके नीचे कम्बल साँटकर उस आरामसे सुलानेकी हद तक न जाऊँगा—सिर्फ़ उस-पर डाल दूँगा जहाँ तक कि मैं उसका मान रखते हुए जा सकता हूँ।

मैंने दोनों हाथोंसे कम्बलको कसकर फिर उठाया। एकाएक मुझे ख़्याल आया कि उस औरतके पास जो आदमी बैठा है वह मेरे काम आ सकता है—

अगर मैं अपनी इच्छासे अपने और उस औरतके बीच दुनियाको डाल दूँ तो हमारा सम्बन्ध भी पूरा हो सकता है और दुनिया हमारे सम्बन्धको अपने ढंगसे समझती भी रह सकती है (यह दुनिया एक इस्तेमाल है जो मैं अक्सर करता हूँ) अगर यहाँ मेरा कोई मित्र होता तो मैं उसका भी इस्तेमाल कर सकता था—वह मेरी तरफ़से होता, इस समय यह आदमी इस औरतकी तरफ़से होगा।

यह लड़की तुम्हारे साथ है ?

उसने मुँह बाकर सिर हिला दिया, न।

कोई बात नहीं, मैंने हँसकर कहा : मैं यह खेल खेल ही डालूँगा। देखो, दुनिया मेरे तुम्हारे बीच रहेगी ही : मैं ही

उसकी भूमिकामें भी उतर लेता हूँ, एक क्षणके लिए अपनेको दो कर लेता हूँ ताकि हमेशा एक बना रह सकूँ।

चारों ओर देखकर मैंने पूछा, कहाँ जाओगी ?

यह प्रश्न उस स्त्रीसे किया गया था। जब मैंने अपनी आवाज़ सुनी तो मुझे लगा कि मैं उससे क्रुद्ध हूँ, उससे घृणा कर रहा हूँ, और बहुत ऊँचेसे चीख़ रहा हूँ—एक पूर्णतः अप्रासंगिक निरर्थक वाक्य···

पर स्त्रीने घुटनोंमेंसे सिर उठाया। उसने मेरी ओर गरदन घुमाकर देखा, बस देखने भरको उसने गरदन घुमायी। वह मुसकरायी और फिर उसने घुटनोंमें सिर दे दिया और वैसे ही हो गयी जैसे थी।

क्या वह पागल है ? मुझे विना मेरे चाहे हँसी आने लगी। यदि वह भी मेरी तरह दुनियाके रिश्ते नहीं मानती तब तो मैं यह तरक़ीब भी नहीं चला सकता। कोई बात नहीं, विना तरक़ीबके सही, अब मैं इसपर कम्बल डाल ही दूँगा। तब फिर मुझे यह सोचकर हँसी रोके न रुकी कि वह कहीं हल्ला न मचाने लगे।

मैंने देखा कि मैं एक ऐसी स्थितिमें आ गया हूँ जहाँ अपनी अपूर्णताकी कहानी लिख डालना उसे कम्बल उढ़ा देनेसे अधिक आसान हो गया है। मैं सतर्क हो गया।

तब मैंने कुछ देर अपनेको समेट लेनेमें लगायी। इतनी देरमें मेरे पैरोंपर पड़ा कम्बल गर्मा उठा।

कितना मुश्किल है बिलकुल अपने आप कुछ करना। मैं अपनी एक अनुभूतिको सहज भावसे व्यक्त करना चाह रहा हूँ

और आलोचकोंने सहजानुभूति और सहजाभिव्यक्तिको इतना सहज बनाया है फिर भी नहीं कर पा रहा हूँ। मैं यह सोचता रुक नहीं जाता कि अगर मैं इसे आज सर्दी न खाने दूँगा तो कल और कलके बाद आनेवाली हज़ार रातोंको यह गर्म रहेगी या नहीं—या कि मेरे देशके लाखों अधनंगे यह जाड़ा कैसे काटेंगे—ज़ो कुछ मैं जानता हूँ वह यह है कि मैं इसपर तरस नहीं खा रहा हूँ, न कोई दान कर रहा हूँ, न इसने माँगा है, न मैंने देनेकी घोषणा की है, न इसे मैं जानता हूँ, न मैं ग़रीबोंकी आमतौरसे मदद किया करता हूँ। कृपया, कृपया मुझपर विश्वास कीजिए, मैं एक अजनबी हूँ और मैं जो कुछ कर रहा हूँ उसका इस स्त्रीसे सम्बन्ध नहीं है, मुझसे ही है, और उस स्त्रीका भी मुझसे एक सम्बन्ध है पर वह आप नहीं जान सकते। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि जिस क्षण मैं अपना काम कर लूँगा वह मर जायेगा और उसकी आत्मा मुझमें समा जायेगी। उसी क्षण आप उसे ग़लत भी समझ लेंगे और अभी भी आप यह नहीं सोच रहे हैं कि मैं कुण्ठासे ग्रस्त हूँ और आप नहीं हैं, इसका क्या प्रमाण है। मान लिया कि मैं विना वजह एक सहज अनुभूतिको व्यक्त नहीं होने दे रहा हूँ और अपने असामाजिक अहंके कारण जीवनका सहज आनन्द नहीं ले पा रहा हूँ, पर ख़ैर अब सही, अब मैं उसे उढ़ा दूँगा। मैं उसे उढ़ाऊँगा। जो मैं करना चाहता हूँ उसके लिए आपकी भाषामें यही शब्द हैं। असलमें मैं यहाँसे उठूँगा और अपने शरीरकी एक हरकतसे वह फ़ासला तय कर लूँगा जो मेरे और इस औरतके बीच दुनियाने घेर रक्खा है।

मैंने कम्बलको उठाया। वह फूल जैसा हलका था। एक

बार आँख भरकर मैंने देखा, वह मानव रूपाकार अपनी समस्त सुन्दरताके साथ जड़ हुआ, अपने आकारमें अर्थमय पर भाषाके लिए अर्थहीन मेरे सामने था : जैसे ही वह अपने चारों ओरके आकाशसे फूटकर मेरी ओर उमँगा मैंने उस औरतपर कम्बल डाल दिया।

रेलगाड़ीकी तालबद्ध आवाज़ त्रुटिहीन, सधी हुई लयमें सुनाई पड़ने लगी।

सारा डिब्बा गहरी नींदमें सो गया था। उबले आलू जैसे चेहरेवाले आदमीका मुँह खुला था और उसपर घनी पीली रोशनी पड़ रही थी जैसे वह नाटकमें मर गया हो और उसके ओठके किनारेसे राल चू रही थी।

औरतको कुछ न हुआ। दो क्षण बाद वह हिली और अपनेको अच्छी तरह उसने लपेट लिया। फिर हिलकर वह पहले सी हो गयी।

लेकिन नहीं, कम्बलने अपनी तरह-तरहकी सिलवटोंसे उसको ढककर वह रूपाकार बिलकुल मिटा दिया जो थोड़ी देर पहले मैंने अन्तिम बार आँख भरकर देखा था।

पर इससे भी अद्भुत बात एक और हुई। मैंने यह कहानी भी लिख डाली और उसे कम्बल भी उढ़ा दिया।

जब कि तथ्य, शुद्ध तथ्य यह है कि इसके पहले कि मैं अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्तिके लिए अपनेको मुक्त कर पाता, सड़कके क़िनारेका एक छोटा स्टेशन आ गया था और वह औरत उतरकर किसी क़स्बेकी अँधेरी रातमें खो गयी थी।

या यह सम्भावना आपको पसन्द न हो तो मान ले सकते हैं कि जिस आदमीने उसे उढ़ाया था उसका स्टेशन आ गया और उसने सोती औरतपरसे अपना कम्बल खींचकर उतार लिया और चला गया।

ठीक यही मैंने किया था।

कहानीकी कला

कहानी बहुत छोटी-सी है, ज़्यादा वक़्त नहीं लूँगा, यानी उससे ज़्यादा नहीं, जितना आपने मुझे दिया है, मगर सम्भव है कि···बल्कि डर है, कि कहानी वक़्तसे पहले ही न समाप्त हो जाय और आप कान लगाये सुनते रह जायँ कि और क्या कहता है, और मैं इधर मुँह बाये बैठा ही रह जाऊँ।

इसलिए कहानीको थोड़ा-सा लम्बा करना पड़ेगा। विस्तृत करनेकी अनुमति मिल जाय तो सुविधा यह है कि बहुत लम्बी हो जाय तो काट दी जा सकती है, कम लम्बी रह जाय तो बढ़ाई जा सकती है मगर छोटी रह जानेमें यह सुविधा तो ख़ैर है ही नहीं, ऊपरसे ख़तरा यह है कि कुछ कहनेसे रह जाय और इससे भी बड़ा ख़तरा यह है कि जो कहना है वही कहनेसे रह जाय। साथ ही एक ज़िम्मेदारी भी है, वह यह कि बातको पहले सही ढंगसे समझा जाय ताकि उसका तत्त्व मालूम हो जाय, क्योंकि संक्षेप, जिसमें तत्त्व नहीं है और केवल लघुता है, वास्तवमें संक्षेप नहीं न्यून है। फिर यह भी एक बात है कि विस्तार सीमित होनेके कारण इतना स्थान···क्षमा कीजिएगा···इतना समय नहीं रहेगा कि सही और ग़लत दोनों तरहकी बातें एक साथ कही जा सकें। यों सही और ग़लत दोनों बातें साथ-साथ न कहनेके पक्षमें और तर्क भी हैं पर यहाँ यही चलने दीजिए, चाहे इसी तर्कसे मुझे होशियार क्यों न हो जाना पड़े।

जी ? क्या कहा आपने ? कहानी ? आप कहते हैं कि आख़िर कहानी तो बताइए क्या है ? ओः कहानी तो बहुत छोटी-सी है। छोटी है, मगर कहानी तो है, और फिर इतनी छोटी भी नहीं कि विना कहे आप तक पहुँच जाय। उसे सुनानेमें मेरा कुछ नहीं लगता, न समय, न श्रम, किन्तु मैं हिचकता हूँ यह सोचकर कि कहानी तो है बहुत छोटी-सी, इत्ती-सी क्योंकि वह सरल है, और वह सरल इसीलिए है कि वह सच्ची है और मानवीय है, पर मन है हमारा आपसे बात करनेका। अच्छा, अगर इस लोभको तज भी दूँ तो भी क्या कहानीको वैसे ही कह पाऊँगा जैसे कि वह है ? कोशिश करके देखता हूँ। सुनिए।

"किसी व्यक्तिने तीसरे दर्जेके एक डब्बेमें घुसकर देखा, कोई लेटा है, कोई अधलेटा पड़ा है, किसीने बेंचपर सामान फैला रक्खा है। कहीं भी बैठनेकी जगह नहीं है···"

अब इसीको मैं यों भी कह सकता हूँ कि एक बारकी बात है, दिल्ली शहरसे एक आदमी लखनऊके लिए चला···या उस आदमीके साधारण मानवीय व्यवहारमें आपको कोई महत्ता न दिखाई दे तो उसको थोड़ा असाधारण या हीन या उत्कृष्ट दिखला सकता हूँ, जैसे सुनिए···

"किसी शहरमें एक सीधासादा ग़रीब आदमी रहता था। उसके एक लड़का और सात लड़कियाँ थीं और लड़का नालायक़ था, लड़कियाँ सातों बिन ब्याही बैठी थीं। एक दिन अचानक उसे एक तार मिला कि तुम्हारी माँ बहुत बीमार है और मर रही है। वह बदहवास दौड़ा-दौड़ा स्टेशन गया और जल्दी-जल्दी टिकट खरीदकर प्लेटफ़ार्मकी तरफ़ भागा।' रास्तेमें उसकी

जेब कट गयी, दो आदमियोंसे टकराया, चारसे गालियाँ खायीं और ग़लत प्लेटफ़ार्मपर जा पहुँचा। वहाँ पहुँचकर सब डब्बे देख डाले मगर कहीं तिल रखनेकी भी जगह न थी। कुछके अन्दर तो नज़र भी न जाती थी। आदमी ऐसे भरे थे जैसे बोरेमें जौके दाने। अब तो वह बहुत घबराया: उसे रुलाई आने लगी और हालाँकि उसने कई बार इधर-उधरसे घुसनेकी कोशिश की मगर वहाँ मक्खीका सिर भी न जा सकता था उसका क्या जाता। ख़ैर, कहानी आगे बढ़ानेके लिए किसी तरह वह एक डब्बेमें रेंग गया।"

कहिए तो इसे कुछ थोड़ा और बढ़ा दूँ और कुछ लुत्फ़ भी पैदा कर दूँ क्योंकि शायद मनोरंजन ही आपका अभीष्ट हो। यानी इसे इस तरह कर दूँ कि इतनेमें बादल गरजा और पानी बरसने लग गया और बिजली कड़की। बादल फिर गरजा और और प्लेटफ़ार्मपर वह भगदड़ मची कि, अब यहाँ "बेचारा" का शब्द आना चाहिए, कि बेचारा परमात्मासे मनाने लगा कि उसे इस भीड़से कुचलकर मरनेसे बचा, चाहे उसकी माँ को, जहाँ कहीं वह बीमार है वहीं मार डाल।

मगर क्यों? मैं इस कहानीको इस तरह क्यों कहूँ? क्या इसलिए कि इस बहाने आपसे कुछ देर और बात करने का मौक़ा मिल जाय, या इसलिए कि उस मुसाफ़िरकी मुसीबतका पूरा-पूरा भान आपको हो जाय, या इसलिए कि आप उसपर दया करने लगें, तरस खायें कि देखो तो बेचारा किस मुसीबतमें फँस गया बैठे-बिठाये, हालाँकि बैठनेकी जगह उसे अभी नहीं मिली। क्या आपको ऐसे आदमीसे कोई मानवीय सहानुभूति नहीं

होगी जो न दयनीय हो, न आर्त्त हो वरन् जो केवल कष्टमें हो? क्या मेरे पात्रका अतिरिक्त भावसे क्लान्त होना आपकी सामान्य स्वाभाविक संवेदना पानेके लिए ज़रूरी है? अच्छा, समझा, आप चाहते हैं कि मेरी भाषा कुछ और चमत्कारिक हो और उसमें ऐसी जान हो कि नायकके प्रति आपका हृदय द्रवित हो जाय।

मगर क्यों? कहानी तो बहुत सादी है और छोटी भी है, यानी यही कि तीसरे दर्जेके किसी डब्बेमें जगह न थी। एक यात्रीने एक बेंचपर दो आदमियों भरकी जगहपर अपना विस्तर-बन्द बँधा-बँधाया रख छोड़ा था, और उसपर जमकर बैठा हुआ था। आगन्तुकने उससे पूछा "भाई, इसमें आप दो आदमियों-की जगह नहीं निकाल सकते क्या?"

अब आप कहेंगे कि यह कोई कहानी है। यह तो तीसरे दर्जेमें घटनेवाली एक दैनन्दिन घटना है। और इसे आप कहानी कहते हैं तो इसमें चौंकानेवाली कोई बात कहाँ है? और उक्ति, उपमा या वर्णनका कोई चमत्कार नहीं था तो क्या थोड़ा करुण-रस या श्रृंगार रस भी आप नहीं पैदा कर सकते थे? कैसी विषम प्रवंचना है। कहानी ही बनाना है तो इसे यों कहिए कि जब वह हारकर रोने-रोनेको हो आया तो अचानक निराशाकी बदलीको चीरकर पंचमीका चाँद उदित हुआ, अर्थात् क्षीण आशाकी एक किरण झाँकी अर्थात् एक डब्बेमें उसे एक बेंच ऐसी दिखायी दी जिसपर किसीने अपना होल्डाल रख छोड़ा था और यही नहीं वह दुष्ट उसपर डटा भी हुआ था जैसे ख़जानेपर साँप

बैठा रहता है। आगन्तुकने निकट जाकर एक क्षण तक कुछ संकोच किया फिर···

नहीं, यह भी कुछ नहीं बनी। इसे ऐसे रक्खूँ कि जगह घेर कर बैठनेवाले यात्रीसे आप सब सुननेवाले डर जायँ और हमारा निरीह आगन्तुक तो उससे एकाएक जगह माँगनेकी हिम्मत भी न करे···

हाँ, तो एक डब्बेमें एक बहुत भयानक आदमी डटा हुआ था जो सत्रह ख़ून कर चुका था और जिसकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी,न इतनी कम कि उसमें कोई सेक्स अपील हो, न इतनी ज़्यादा कि देखकर श्रद्धा हो, बल्कि ठीक इतनी जितनीसे वह .खूँख़ार लगने लगे और उसके बड़ी-बड़ी मूँछें भी थीं, नहीं, गलमुच्छे थे। उसने जो कपड़े पहन रक्खे थे उनपर बहुत सख़्त कलफ़ था। उसके हाथमें एक शिरभंजक दण्ड था और कन्धेसे बन्दूक़ लटक रही थी। सीनेपर कारतूसोंसे खचाखच भरी पेटी थी और पैरोंमें डम्प्लाट बूट थे जिनमें भयंकर नालें जड़ी हुई थीं। वह थोड़ा-थोड़ा सो रहा था। उसकी नाक ऐसे बज रही थी जैसे लकड़ी काटनेका आरा चल रहा हो। आगन्तुकने चारों ओर देखा, सभी उस जवानके आतंकसे चुप बैठे थे। उसने माथेसे पसीना पोंछा, साँस रोक ली और लड़खड़ाते पैरोंको सम्हाला तथा उसकी लाल नृशंस आँखोंसे आँखें बचाकर यह कहनेकी हिम्मत की, "ग़रीबपरवर ज़रा-सी जगह, बस टिकने भर की, एनायत फ़र्माइयेगा ?···"

अब शायद आप उत्सुक हो उठे हों कि अब क्या होगा,

एक किस तरह गुर्रायेगा और दूसरेकी किस तरह बजाय माँके नानी मर जायगी।

मगर वह मेरा उद्देश्य नहीं। मुझे तो केवल घटनाका वर्णन करना है, केवल यह बताना है कि जब दो व्यक्तियों, दो मानवोंके बीच एक सम्बन्ध टूटा और दूसरा बना तो उसमें क्या कहानी पैदा हो गयी। मैं तो सिर्फ़ यह बताना चाहता हूँ कि जब खड़े हुए यात्रीने बैठे हुए यात्रीसे जगह माँगी, क्योंकि वह दोकी जगह घेरे बैठा था, तो जवाब क्या मिला।

"भाई, इसमें आप दो आदमियोंकी जगह नहीं निकाल सकते क्या ?"

"नहीं, नहीं निकाल सकता। मैं आराम करूँगा।"

कितनी सीधी-सी बात है, नहीं साहब, जगह नहीं निकाल सकते, आराम करेंगे। कहिये, आप क्या कर लेंगे?

मैं जानता हूँ कि ऐसे कोई कहानी नहीं कही जाती कि यह हुआ फिर वह हुआ और अन्तमें यह हुआ, इति। मगर यह ख़ूब जानता हूँ कि कहानी होती ऐसी ही है; उसका आरम्भ भी होता है, मध्य भी और अन्त भी, परन्तु उसके बीच केवल एक घटना होती है। उसके पात्र या चरित्र, जड़ या जानवर कुछ भी हो सकते हैं पर वे कुछ ऐसा करते हैं जो मानवीय होता है, और निरपेक्ष मानवीय होता है। तो कहानी यह है कि जब जवाब आया, नहीं, मैं जगह नहीं निकाल सकता : मैं आराम करूँगा, तो आगन्तुकने कहा अच्छा, और अपने हाथके थैलेको ज़मीनपर रखकर वहीं खड़ा हो गया। अगर उसके टख़नेमें एक

नासूर होता तो उसके खड़े रहनेसे शायद आपको आसानीसे दर्द होता, मगर नहीं था, इसलिए वह ऐसे ही खड़ा रहा। गाड़ी चलनेमें दो घण्टेकी देर थी। उसने एक बार चारों ओर देखा, कोई उसके इस अपमानपर हँस तो नहीं रहा है। नहीं, कोई नहीं हँस रहा था, क्योंकि कोई किसी तीसरी परिस्थितिमें नहीं था। उसने एक बार फिर चारों ओर देखा कि कोई कहीं ज़रा-सी जगह दे दे, पर सभी या तो सिकुड़कर बैठे थे या लेटकर, जगह कहाँसे होती। फिर उसने एक लम्बी साँस ली और सोचा कि खड़ा रहूँगा तो क्या गाड़ी तो चलती रहेगी···अपनी माँके अन्त समय उसके पास पहुँच तो जाऊँगा।

निश्चय ही दूसरा यात्री दो आदमियोंकी जगह घेरकर बैठा हुआ था। एक तो यह अन्याय था, उससे भी पहले यह असभ्यता थी। क्या इसी कारण वह देखनेमें डरावना था? कितना अच्छा होता यदि वह विना डरावना हुए असभ्य हो सकता या विना असभ्य हुए डरावना हो सकता। निश्चय ही उसने दण्डनीय कार्य किया था और वह तुच्छ प्रमाणित हुआ था, पर क्या उसकी तुच्छता इसीलिए प्रमाणित हो सकी थी कि और सब लोग श्रेष्ठ थ? क्या न्यायका आदर्श अन्यायका ही विपर्यय होता है? कहानी कलाके नियम कहते हैं कि यहाँपर मुझे सताये हुए मुसाफ़िरको महान् साबित करना चाहिए, उसकी सहिष्णुता, निस्वार्थता या क्षमाकी प्रशंसा करनी चाहिए, पर क्यों करूँ, कहानी तो बहुत सीधी-सी है और छोटी भी और वह बस इतनी-सी है—

"खड़े-खड़े उसे पाँच मिनट बीत गये; दस, पन्द्रह, बीस मिनट

बीत गये। आध घण्टे बाद बैठे हुए आदमीमें ज़रा-सी हरकत हुई, उसने आसन बदला और राल घूँटी। ज़रा देर बाद उसने खड़े हुए आदमीके मुँहकी ओर देखा पर वह दूसरी ओर देख रहा था इसलिए वह ओंठ काटने लगा। फिर उसने आसन बदला और इस बार जो उसकी आँखें आगन्तुकसे चार हुईं तो वह डब्बेके बाहर झाँकने लगा। खड़ा हुआ आदमी खड़ा रहा। गरमी बढ़ रही थी। वह पसीनेसे नहाता गया। पाँच मिनट और बीत गये। अचानक बैठे हुए आदमीने पाँव समेट लिये और गला साफ़ करके कहा, "अब मुझसे बर्दाश्त नहीं होता, आप यहाँ बैठ जाइए।"

जी हाँ, बस इतनी-सी कहानी है, क्योंकि घटना ही इतनी-सी है। घटनामें दो व्यक्ति हैं। दोनोंमें एक मानवीय सम्बन्ध है यानी एक सम्बन्ध है जिसको लेकर दोनों वहाँ एकत्र होते हैं, फिर उस सम्बन्धमें बाधा आती है, वह विकल होता है, बदलता है, अचानक दूसरा हो जाता है। यह सम्बन्धका बनना ही घटना है,यह घटना ही कहानी है। क्यों हम यह दिखानेकी कोशिश करते हैं कि वह सम्बन्ध तभी बनता है जब उसके बननेकी सम्भावनाएँ सबसे कम होती हैं ? क्यों हम विना किसी अतिरंजित दृष्टिके वह घटना पहचान ही नहीं पाते और उसे पहचानकर चौंकते क्यों हैं, वह तो मानवीय है, स्वाभाविक है, और उसमें कौतूहल क्यों पाते हैं, आनन्द क्यों नहीं ?

वास्तवमें सभी आनन्ददायिनी मानवीय घटनाएँ स्वाभाविक हैं; यदि एक व्यक्ति श्रेष्ठ है तो उसकी श्रेष्ठता स्वयं महत्त्वपूर्ण है, किसीकी क्षुद्रता उसे महत्त्व नहीं देती। यदि कोई दया करता है

तो वह दयालु है, क्या यह बताया जाय कि वह पहले बड़ा नृशंस दस्यु था फिर बदलकर साधु हो गया, तभी दयाका श्रेय उसे मिलेगा ? कला यह नहीं है कि किसी गुणको प्रदर्शित करनेके लिए दुर्गुणोंको अतिरंजित कर दिया जाय—न कला यही है कि जब कोई स्वाभाविक घटना घटे तो उसका ऐसे वर्णन किया जाय कि हम चौंक उठें। कला तो यह है कि हम उसमें रत मानवोंके पारस्परिक सम्बन्धको तुरन्त देख सकें; जहाँ कोई ऐसा नहीं कर पाता, वहाँ उसे तरह-तरहके प्रयोगोंका आश्रय लेना पड़ता है, जहाँ कोई ऐसा कर पाता है, अर्थात् जीवनकी सहज मानवीयताको देख पाता है और उससे कौतूहल नहीं आनन्द ग्रहण कर पाता है वहीं सच्ची कलाका जन्म होता है। वहाँ अनुभवके स्तरपर ही प्रयोगका आरम्भ हो जाता है। कला तो जीवनके लिए है ही, जीवन भी कलाके लिए हो जाता है।

इसलिए हमारी कहानी यह है कि एक यात्रीने दूसरेसे कहा, 'भाई, ज़रा हमको भी बैठने दो।' दूसरेने कहा, 'नहीं, मैं आराम करूँगा।' पहला आदमी खड़ा रहा। उसे जगह नहीं मिली पर वह चुपचाप खड़ा रहा।

दूसरा आदमी बैठा रहा और देखता रहा। बड़ी देर तक वह उसे खड़े हुए देखता रहा। अचानक उसने उठकर जगह कर दी और कहा, 'भाई, अब मुझसे बरदाश्त नहीं होता। आप यहाँ बैठ जाइये।'

सीढ़ियोंपर धूपमें

कविताएँ

यही मैं हूँ

यही मैं हूँ
और जब मैं यही होता हूँ
थका, या उन्हीं-के-से वस्त्र पहने, जो मुझे प्रिय हैं–
दुखी मन में उतर आती है पिता की छवि
अभी तक जिन्हें कष्टों से नहीं निष्कृति
उन्हीं अपने पिता की मैं अनुकृति हूँ
यही मैं हूँ।

शक्ति दो

शक्ति दो, बल दो, हे पिता
जब दुख के भार से मन थकने आय
पैरों में कुली-की-सी लपकती चाल छटपटाय
इतना सौजन्य दो कि दूसरों के बक्स-बिस्तर घर तक
पहुँचा आयें
कोट की पीठ मैली न हो, ऐसी दो व्यथा—
शक्ति दो।

और यह नहीं दो तो यही कहो,
अपने पुत्रों मेरे छोटे भाइयोंके लिए यही कहो—
कैसे तुमने अपनी पीढ़ीमें किया होगा क्या उपाय ?
कैसे सहा होगा, पिता, कैसे तुम बचे होगे ?
तुमसे मिला है जो विक्षत जीवन का हमें दाय
उसे क्या करें ?
तुमने जो दी है अनाहत जिजीविषा
उसे क्या करें ?
कहो, अपने पुत्रों मेरे छोटे भाइयोंके लिए यही कहो।

मेरा एक जीवन है

मेरा एक जीवन है
उसमें मेरे प्रिय हैं, मेरे हितैषी हैं, मेरे गुरुजन हैं
उसमें मेरा कोई अन्यतम भी है :

पर मेरा एक और जीवन है
जिसमें मैं अकेला हूँ
जिस नगर के गलियारों फ़ुटपाथों मैदानों में घूमा हूँ
हँसा-खेला हूँ
उसके अनेक हैं नागर, सेठ, म्युनिसिपल, कमिश्नर, नेता
और सैलानी, शतरंजबाज़ और आवारे
पर मैं इस हाहाहूती नगरी में अकेला हूँ।

देह पर जो लता-सी लिपटी
आँखों में जिसने कामना से निहारा
दुःख में जो साथ आये
अपने वक़्त पर जिन्होंने पुकारा
जिनके विश्वास पर वचन दिये, पालन किया
जिनका अन्तरंग होकर उनके किसी क्षण में मैं भी जिया
वे सब सुहृद हैं, सर्वत्र हैं, सर्वदा हैं
पर मैं अकेला हूँ।

सारे संसार में फैल जायेगा एक दिन मेरा संसार
सभी मुझे करेंगे—दो चार को छोड़—कभी न कभी प्यार
मेरे सृजन, कर्म-कर्त्तव्य, मेरे आश्वासन, मेरी स्थापनाएँ
और मेरे उपार्जन, दान-व्यय, मेरे उधार
एक दिन मेरे जीवन को छा लेंगे—ये मेरे महत्त्व ।
डूब जायेगा तन्त्रीनाद कवित्त-रस में, राग में, रंग में, मेरा
यह ममत्व
जिससे मैं जीवित हूँ ।
मुझ परितृप्त को तब आकर वरेगी मृत्यु—मैं प्रतिकृत हूँ ।

पर मैं फिर भी जियूँगा
इसी नगरी में रहूँगा
रूखी रोटी खाऊँगा और ठंडा पानी पियूँगा
क्योंकि मेरा एक और जीवन है और उसमें मैं अकेला हूँ ।

क्षमा न दो

यदि मैंने केवल आशा में जन्म बिताया हो
यदि मैंने अपनी इच्छाएँ आने दी हों
जैसे भी वे आना चाहें
यदि इस तृष्णासे फूटी हों कई अनर्गल आकांक्षाएँ
यदि जो चाहा वह न मिला हो
यदि स्वीकार किया हो मैंने जो पाया हो
तो मेरे परमेश्वर मुझको क्षमा न दो

यदि यह व्यथा विलासी की हो
अथवा यदि यह एक व्यथा हो
यदि इस दुख की एक दवा हो
यदि खोजी हो मैंने निष्कृति फैला आलिंगन को बाहें
करुणामयि नारी यदि मैंने दासी की हो
यदि यह ही प्रतिकार व्यथा का कर आया हो
तो मेरे परमेश्वर मुझको क्षमा न दो

पर मेरी आसक्ति सरल है
पर सच यह है इस दुख में अथवा उस सुख में

मैंने याद तुम्हारी की है
--विरक्त मन, विशृंखल जीवन--
यह क्या कम है बतला सकता हूँ वह छवि किस नारी की है?
यदि जो सादा और सरल है वही मुझे माया हो
तो मेरे परमेश्वर मुझको क्षमा न दो।

ज्वार

तट पर रखकर शंख-सीपियाँ
चला गया हो ज्वार हमारा
तन पर मुद्रित छोड़ गया हो सुख के चिह्न विकार हमारा
जब सब कर, हम चुके हुए हों, सह सब, चुके हुए हों
जब हम कह सब, चुके हुए हों—
तब तुम, तब तुम ज्वार हमारी तृष्णा के फिर आना
इस जहाज़ को बन्दर में पहुँचा जाना फिर आकर।

तब इस भोगी रोगी संसारी सम्पृक्त हृदय में
ओ अपनी लालसा, गर्व भर जाना
फिर हम निकलें
इस यान्त्रिक युग में भी अपनी जानी-पहचानी नौका के
तार-तार पालों को खोले
छलनी-छलनी काठ हमारी और परीक्षित-दीक्षित हो ले
यदि डगमग डोले तो डोले
और किसी दैनिक सूर्योदय में हम देखें
किसी नये बनढँके अँधेरे का कोई जलधुला किनारा :
जब हम कर सब, चुके हुए हों, सह सब, चुके हुए हों
जब हम कह सब, चुके हुए हों

तब तुम, तब तुम ज्वार हमारी तृष्णा के फिर आना
इस जहाज़ को बन्दर में पहुँचा जाना फिर आकर
रत्नद्वीप है जाना हमको
फिर अपने घर आना हमको
पार किसे करना है यह मुक्तासर, यह भवसागर ?

जो कह डाला

सच ? वह ? जो हमने पाया था ?
वह कह डाला :
जो कह डाला वह कह डाला
हालाँकि हमें वह तोड़ गया
यह एक अजब-सी घटना है
कुछ बहुत, बहुत-कुछ तो वह हममें जोड़ गया
लेकिन ये सब हैं अब बिलकुल–बिलकुल ख़ाली
अब नहीं रहे अपने ख़ातिर इस्तेमाली
उस आलिंगन के इस चुम्बन के वे अंकन
जो इस तनपर वह छोड़ गया ।

यह नहीं कि वह अनुभव केवल तीखा था
बस यह भी नहीं कि उसमें सहसा कोई सच दीखा था
हाँ, यह भी नहीं कि चौकन्ने हों तब से
यह नहीं कि अब हम सीख गये हों बचते हैं किस ढब से
हम पहले जितने तत्पर थे हम अब भी उतने तत्पर हैं
हम पहले जितने आतुर थे हम अब भी उतने आतुर हैं
हम पहले बहुत बहादुर थे, हम अब भी बहुत बहादुर हैं
फिर चोट वहीं पर खायेंगे यह घाव जहाँ हो आया है
जितना ज़िद्दी है मन उतनी हट्टी-कट्टी यह काया है ।

इतने शब्द कहाँ हैं

इतने अथवा ऐसे शब्द कहाँ हैं जिनसे
मैं उन आँखों कानों नाक दाँत मुँह को
पाठकवर,
आज आप के सम्मुख रख दूँ
जैसे मैंने देखा था उनको कल-परसों ।

वह छवि मुझ में पुनरुज्जीवित कभी नहीं होती है
वह मुझ में है । है । वह यह है
मैं भी यह हूँ
मेरे मुख पर अक्सर जो आभा होती है

मत पूछना

मत पूछना हर बार मिलने पर कि 'कैसे हैं'
सुनो, क्या सुन नहीं पड़ता तुम्हें संवाद मेरे क्षेम का,
लो, मैं समझता था कि तुम भी कष्टमें होगी
तुम्हें भी ज्ञात होगा दर्द अपने इस अधूरे प्रेम का।

क्या होगा

क्या होगा इस कभी-कभी के मधुर मिलन की घड़ियों का
जीवन की टूटी-टूटी इन छोटी-छोटी कड़ियों का
कैसे इनकी विश्रृंखलता मुझको-तुझको जोड़ेगी
क्या कल नाता वही जुड़ेगा आज जहाँ यह तोड़ेगी ?

कैसे

मैं अलग रहूँ
तेरी क्षुद्र अकुलाहट से मेरी यह विशालतर करुणा
अलग रहे—
यह कैसे सम्भव है ?
तू मिल, मिलकर शान्त हो
वह मिलना भूल जा
तेरे उस तन्मय क्षण से मेरा जीवन-धन
कैसे अलग रहे ?

जब मैं तुम्हें

जब मैं तुम्हारी दया अंगीकार करता हूँ
किस तरह मन इतना अकेला हो जाता है ?

सारे संसार की मेरी वह चेतना
निश्चय ही तुम में लीन हो जाती होगी ।

तुम उस का क्या करती हो मेरी लाडली—
—अपनी व्यथा के संकोच से मुक्त होकर
जब मैं तुम्हें प्यार करता हूँ ।

स्वीकार

तुम में कहीं कुछ है
कि तुम्हें उगता सूरज, मेमने, गिलहरियाँ, कभी-कभी का मौसम
जंगली फूल-पत्तियाँ, टहनियाँ—भली लगती हैं

आओ उस कुछ को हम दोनों प्यार करें
एक दूसरे के उसी विगलित मन को स्वीकार करें ।

पानी

पानी का स्वरूप ही शीतल है

बाग़ में नल से फूटती उजली विपुल धार
कल-कल करता हुआ दूर-दूर तक जल
हरेरी में सीझता है
मिट्टी में रसता है
देखे से ताप हरता है मन का, दुख बिनसता है।

पानी के संस्मरण

कौंध । दूर घोर वन में मूसलाधार वृष्टि
दुपहर : घना ताल : ऊपर झुकी आम की डाल
बयार : खिड़की पर खड़े, आ गयी फुहार
रात : उजली रेती की पार; सहसा दिखी
शान्त नदी गहरी

मन में पानी के अनेक संस्मरण हैं ।

अर्पित

गमले में उगा नन्हीं-नन्हीं पत्तियों का
हरा सजग बिरुवा मुझे शान्ति देता है।
तुम्हें क्या देती है तुम्हारी सेनापतियों, सैनिकों युद्ध-
बन्दियों की पाँति ?

तुम जिस जीवन में जुते हो, अनुयायियों,
उसी में मैं भी अर्पित हूँ—
अपने कविधर्म से अपनी ही भाँति।

प्रतीक्षा

दूसरे तीसरे जब इधर से निकलता हूँ
देखता हूँ, अरे इस वर्ष गुलमोहर में अभी तक फूल नहीं आया
—इसी तरह आशा करते रहना कितना अच्छा है
विश्वास रहता है कि वह प्रज्ज्वलित रूप
में भूल नहीं आया ।

बौर

नीम में बौर आया

इसकी एक सहज गन्ध होती है
मन को खोल देती है गन्ध वह
जब मति मन्द होती है

प्राणों ने एक और सुख का परिचय पाया।

ये क्षण

आने दो, ये मुझसे मिलने आये हैं।
की पूज्यचरण जीवन की पूजा-अर्चा
उस में मैंने जो कुछ सुखदुखधन ख़र्चा
वह इन का ही तो था, लेने आये हैं।

ये मेरे चौंके-चौंके क्षण चिन्तन के
ले जायेंगे सुख पागल आलिंगन का
चुम्बन का, चुम्बन पर कातर चुम्बन का
ले जायेंगे स्मृति, ये क्षण पुनस्मरण के

जाने दो, जो ले जायें ले जाने दो,
भवबन्धन जब टूटेंगे तब टूटेंगे
प्राणप्रिय जब छूटेंगे तब छूटेंगे
तब तक तो तन कुछ हलका हो जाने दो।

हमने यह देखा

यह क्या है जो इस जूते में गड़ता है
यह कील कहाँ से रोज़ निकल आती है
इस दुःख को रोज़ समझना क्यों पड़ता है

फिर कल की जैसी याद तुम्हारी आयी
वैसी ही करुणा है वैसी ही तृष्णा
इस बार मगर कल से है कम दुखदायी

फिर ख़त्म हो गये अपने सारे पैसे
सब चला गया सुख-दुख बट्टेखाते में
रह गये फ़कत हम तुम वैसे के वैसे

फिर अपना पिछला दर्द अचानक जागा
फिर हमने जी लेने की तैयारी की
उस वक्त तकाज़ा करने आया आग़ा

इस मुश्किलमें हम ने आख़िर क्या सीखा
इस कष्ट उठाने का कोई मतलब है
या है यह केवल अत्याचार किसी का

'यह तो है ही', शुभचिन्तक यों कहते हैं,
'अपमान, अकेलापन, फ़ाका, बीमारी'
क्यों है ? औ वह सब हम ही क्यों सहते हैं ?

हम ही क्यों यह तकलीफ़ उठाते जायें
दुख देने वाले दुख दें और हमारे
उस दुख के गौरव की कविताएँ गायें !

यह है अभिजात तरीक़े की मक्कारी
इस में सब दुख हैं, केवल यही नहीं हैं
—अपमान, अकेलापन, फ़ाका, बीमारी

जो हैं, वे भी हो जाया करते हैं कम
है ख़ास ढंग दुख से ऊपर उठने का
है ख़ास तरह की उन की अपनी तिकड़म

जीवन उन के ख़ातिर है खाना-कपड़ा
वह मिल जाता है और उन्हें क्या चहिए
आख़िर फिर किसका रह जाता है झगड़ा

हम सहते हैं इसलिए कि हम सच्चे हैं
हम जो करते हैं वह ले जाते हैं वे
वे झूठे हैं लेकिन सब से अच्छे हैं

पर नहीं, हमें भी राह दीख पड़ती है
चलने की पीड़ा कम होती जाती है
जैसे-जैसे वह कील और गड़ती है

हमने यह देखा दर्द बहुत भारी है
आवश्यक भी है, जीवन भी देता है
—यह नहीं कि उस से कुछ अपनी यारी है

हमने यह देखा अपनी सब इच्छाएँ
रह ही जाती हैं थोड़ी बहुत अधूरी
—यह नहीं कि यह कह कर मन को समझाएँ

—यह नहीं कि जो जैसा है वैसा ही हो
यह नहीं कि सब कुछ हँसते-हँसते ले लें
देनेवाले का मतलब कैसा ही हो

—यह नहीं कि हमको एक कष्ट है कोई
जो किसी तरह कम हो जाये, बस छुट्टी
कोई आकर कर दे अपनी दिलजोई

वह दर्द नहीं मेरे ही जीवन का है
वह दर्द नहीं है सिर्फ़ विरह की पीड़ा
वह दर्द ज़िन्दगी के उखड़ेपन का है

वह दर्द अगर ये आँखें नम कर जाये
करुणा कर आप हमारे आँसू पोंछे
—वह प्यार कहीं यह दर्द न कम कर जाये

चिकने कपड़े, अच्छी औरत, ओहदा भी
फ़िलहाल सभी नाकाफ़ी बहलावे हैं
ये तो पा सकता है कोई शोहदा भी

जब ठौर नहीं मिलता है कोई दिल को
हम जो पाते हैं उस पर लुट जाते हैं
क्या यही पहुँचना होता है मंज़िल को ?

हम को तो अपने हक़ सब मिलने चहिए
हम तो सारा का सारा लेंगे जीवन
'कम से कम' वाली बात न हम से कहिए।

आज शाम को जो देखा

मेरे नये जूते का था लचकीला तला
रात अँधेरी सड़क पे देर तक मैं चला
कोई तीन बजे होंगे तब बिना थके हुए
लौट आया घर, सात बजे का था निकला

ऐसी ठंडी-ठंडी रात, ऐसा टूटा-टूटा ध्यान
क्या बताऊँ मुझे कर नहीं आयेगा बयान
था बसन्त का महीना फ़रवरी जादूभरी
और व' रात, व' अँधेरा, व' हवा व' सूनसान

पेड़ दोनों ओर राह के खड़े थे अकारण
कुछ दूर-दूर आपस में अनजान बन
कोई सूखे-सूखे बड़े-बड़े पत्तोंवाला था
था किसी का रुई की फुरेरी जैसा फूला तन

ख़ैर, पेड़ जैसे भी दिखायी देते थे अजीब
और ख़ासतौर से व' जो थे लैम्प के क़रीब
राह सीधी थी, हवा में धूल ज़रा नहीं थी
कोई घटना भी नहीं घटी अजीबोग़रीब

यहाँ तक कि याद भी व' किया मैंने कई बार
आज शाम को जो देखा : मोड़ लेती हुई कार
वो जो गाँव से बरात नयी दिल्ली में थी आयी
छोटी-छोटी दुकानों की लम्बी, बन्द व' क़तार

कोई भेद शाम का न रात में मगर मिला
किसी दर्द से न जुड़ा इस दुख का सिलसिला
ख़ैर, गनीमत हुई कि वहीं शहर के शहर
घूम कर के रह गया व' रास्ते का फ़ासिला

और कन्धे पर व' भारी-भारी मुड्ढोंवाला कोट
हल्का हो गया : मगर व' गयी दिल को कचोट—
ताज़गी——था जिस से थोड़ा गुनगुना-सा अन्धकार
लौट आया, खट, खट, खट, दरवाज़े पे की चोट।

तोड़ो

तोड़ो तोड़ो तोड़ो
ये पत्थर ये चट्टानें
ये झूठे बन्धन टूटें
तो धरती को हम जानें
सुनते हैं मिट्टी में रस है जिस से उगती दूब है
अपने मन के मैदानों पर व्यापी कैसी ऊब है
आधे आधे गाने

तोड़ो तोड़ो तोड़ो
ये ऊसर बंजर तोड़ो
ये चरती परती तोड़ो
सब खेत बनाकर छोड़ो
मिट्टी में रस होगा ही जब वह पोसेगी बीज को
हम इसको क्या कर डालें इस अपने मन की खीज को ?
गोड़ो गोड़ो गोड़ो

करो सहन

कष्ट गहन
करो सहन,
ओ रे मन ।

नहीं, नहीं, व्यथा में है सुख नहीं कोई व्यथा ही का
यह न समझ गौरव है दुख में, दुख की कथा ही का ।
सुने कौन ?
सभी निजी विरह व्यथा में मौन ।
मत कहो, सहो, सहो, सहो, रहो कि अभी है अस्पष्ट
क्या देता है कष्ट । करो वहन
माथे पर दिल का भार
जब तक प्रतिकार न हो, सहो, सहो
जब तक यह न हो बोध
मुझ में भी क्रोध
और लूँगा प्रतिशोध । और जब तक प्रतिशोध न हो
कष्ट गहन,
करो सहन,
ओ रे मन ।

धीर धर गया अगर

व्यथा व्यथा में भी अन्तर है इतना जिस में देह समाय
एक किसी की आत्मकथा है, एक दुखी की मोटी हाय
एक अल्पसन्तोष हमारा—तनरक्षा का सहज उपाय
एक हमारी महदाकांक्षा—जीवन-परम्परा का दाय।

दुख में दुख में भी अन्तर है, जो सहनेवालों में है
एक खुले घावों में है दुख, एक पके छालों में है
उस दुख से क्या लेना-देना जो मरनेवालों में है
हम उस दुख के अन्वेषक हैं जो जीनेवालों में है।

इसी विकलता में जीना है, इससे कैसा क्यों बचना
यही कष्ट तन का है मन का; नित्य आँच में है तचना
अगर साँच को आँच नहीं तो दुख को सच होगा जँचना
धीर धर गया अगर वीरवर तो कर जायेगा रचना।

माला

प्रतिदिन एक विछोह हुआ है
प्रतिदिन मैंने मोह किया
वन-उपवन में जो कुछ पाया
जयमाला में पोह दिया

अनगढ़ है पर सुन्दर है यह
मेरे मन का संचय है
फूल विवश मुरझा जायें
पर धागा ? वह मृत्युंजय है

गुँथी रहेगी माला, चाहे
जग सौरभ से भर न सके
जीवन की जय हो, यह जन
यह रण चाहे जय कर न सके ।

यहीं बच रही

दिन यदि चले गये वैभव के
तृष्णा के तो नहीं गये
साधन सुख के गये हमारे
रचना के तो नहीं गये

जो कुछ झेला था इस तन पर
वह इस मन को दे डाला
फिर भी बहुत बची है
चुम्बन में जीवन की मधु-ज्वाला

वही बच रही कोपल
आँधी ने जब टहनी दी झकझोर
भूसी का कबिरा क्या करता
तत्त्व तत्त्व रख लिया पछोर ।

आओ, जल-भरे बरतन में

आओ, जलभरे बरतन में झाँकें
साँस से पानी में डोल उठेंगी दोनों छायाएँ
चौंक कर हम अलग-अलग हो जायेंगे
जैसे अब, तब भी न मिलायेंगे आँखें, आओ

बैठी हुई शीतल जल में छाया साथ-साथ भीगे
झुके हुए ऊपर दिल की धड़कन-सी काँपे
करती हुई इंगित कभी हाँ के, कभी ना के

आओ जलभरे बरतन में झाँकें

इस पीड़ा की इस पद्धति में

इस पीड़ा की इस पद्धति में
हम तो कुछ भी नहीं रहे
वह सब दुखड़े भूल गये
जो तुम से अब तक नहीं कहे

दरद हमारा क्या था ?
कोई भूख ? या कि था बदहज़मी
बहस अगर इस पर हम करते
वे बातें होतीं रस्मी

जब तक उस को मन में रक्खा
वह पहचाना नहीं गया
जब उस ने तुम को भी घेरा
हमें नहीं वह रहा नया

अब हम अपनी बात कहें क्या
जब वह तुम भी जान गयीं
—'एक तुम्हीं बेचैन नहीं हो'
तर्क हमारा मान गयीं

अब तो हम आगे जायेंगे
आओ, यदि आना चाहो
कुछ मेरा ही भला न होगा,
होगा, अगर तुम्हारा हो

यहीं कहीं तक अगर गये
तो कैसा हमने साथ दिया
क्या मतलब ? यदि छूने के ही लिए
हाथ में हाथ लिया

मुश्किल है यह ? हाँ, है तो
जैसे कि और सब मुश्किल है
थोड़े ही में ख़ुश हो जानेवाला
यदि अपना दिल है

जीवित रहना ही यदि होती
बस अपनी ज़िम्मेदारी
जैसे तैसे जी लेते हम
एक ज़िन्दगी दुखियारी

लेकिन हम तो उस मौक़े से
बाहर रहते आये हैं
जिस में क्षणभर जी लेने की
कई एक सुविधाएँ हैं

बाहर बाहर जाते जाते
अब अपना मन ख़ाली है
लेकिन जा जा कर उसने
पगडंडी एक बना ली है

हरियाली दोनों ढिग होगी
जहँ तहँ होंगे फूल खिले
पर हम तो पगडंडी पर ही जायेंगे
हम चल निकले

क्या इस को भी कहें पलायन—
यह सीधे रस्ते चलना ?
—क्योंकि घास में नहीं अरझने
ले जाती हम को छलना !

इतने बड़े जगत में होंगे ही
मैदान तमाम पड़े
उन्हें मार लें, औ पैरों से
उन की दूब नहीं बिगड़े

ऐसा अपना ध्येय अगर हो
सीधा सादा और बड़ा
तो कोई निकले, वरना
हक्का-बक्का रह जाय खड़ा ।

आभार

मानता हूँ बन्धु यह आभार

तुम न होते तो न शायद जान पाता
इस व्यथा से भी कठिन है व्यथासे उद्धार,
मानता हूँ बन्धु यह आभार ।

और तुम हो, इसलिए अब (यह नहीं कि कहीं ज़रा
घट-वट गया है वेदना का भार)

इसलिए अब, जानता हूँ
यह कि अपनी व्यथा को तो तुष्टि देना सरल है
मन माँगता है, प्रिय, तुम्हारी व्यथा का प्रतिकार ।

ढाल पर

उस ढाल पर हम पट पड़े सोचा किये सोचा किये
अपनी पहुँच में दूब थी जितनी उसे नोचा किये
जब वह सहारा भी गया, यानी कि सब तिनके चुके
यों ही कोई ढेला उछाला और फिर गोचा किये।

उजली दुपहरी थी, हवा ठंडी, शुरू की जनवरी,
हम दो जने थे, मैं सयाना दूसरी थी छोकरी,
वह खिलखिलाती ही रही दो चोटियाँ गूँथे हुए,
जो काम था मेरे लिए, उसके लिए थी मसख़री।

फिर ऊब कर बोली, "तुम्हें क्या और कुछ आता नहीं ?
वह खेल खेलें दौड़ने का, यह हमें भाता नहीं"
मैं उठ पड़ा, "चल, ठीक है अब हो गयी तू भी दुखी
अब देख ले तू भी कि अपना दर्द यों जाता नहीं।"

सान्त्वना

माधवी,
या और भी जो कुछ तुम्हारे नाम हों,
तुम एक ही दुख दे सकीं थीं
फिर भला ये और सब किसने दिये हैं ?
जो मुझे हैं और दुख, वे तुम्हें भी तो हैं
यही क्या नहीं काफ़ी तर्क है कि मुझे दया का पात्र मत
समझो

न लज्जित हो,
न मन में ग्लानि अनुभव करो
छिः रो मत ।

नहीं, यह कष्ट तुमने नहीं मुझ को दिया है
तुम नहीं दोषी हो ।

तथा यह भी करो न गुमान
प्यार दुलार से तुम बड़ी मुझ को सान्त्वना दोगी
किसी की देह में इतनी नहीं सामर्थ्य होती है ।

तुम्हारे हाथ में दे हाथ, सिर से सिर मिला कर बैठने से
लाभ क्या
चाहे अभी तुम चाहती भी हो कि तुम को देर तक मैं
एक चुम्बन दूँ
कि थोड़ा दुख तुम्हारा दूर हो जाये ।

धिक् मेरी व्यथा को

मैंने ही तुम्हें अपने दुर्गुण बताये हैं
इतना कभी तुमने नहीं चाहा कि जान लो
कभी मेरी इस गठरी पर शक भी नहीं किया
तुमने व्यथा दी, समवेदना भी दी, क्षमा, ममता भी दी
नहीं कभी पूछा, "कौन है पात्र ?"—चुना नहीं।
लक्ष्मी, करुणावती थीं तुम, विलासी था मैं
किन्तु धिक् मेरी व्यथा को
जो और अधिक दया ही माँगती रही
—बन्दिनी नारी की दया जो केवल तन का समर्पण है।

आओ नहायें

आओ नहायें
छत से फुहार झरे खड़े रहें आँख मींच
कभी कभी चुपके से देखें धुल रही धूल थकी पिंडलियों की
थके थके एक दूसरे को उघरे देखें
और न शरमायें

आओ
कुछ भीगने दो
भीगे केशों में सुगन्धि आ जाने दो
कानों के पीछे का मैल निकल जाने दो
आह, चाहते क्या हैं ? कट जायें पाप ?

हिश्त् । खड़े रहें, भौहों में ठंड पड़े
खड़े रहें, खड़े रहें
और निखर आयें ।

दाता, तुझको क्या मतलब

उनकी सहिष्णुता की सीमा से दाता तुझको क्या मतलब
वे जीवित रहते हैं जीवित ही रहने के लिए नहीं
तू देता है कष्ट, और कुछ तू दे ही क्या सकता है
वे सहते हैं कुछ मतलब से, कुछ सहने के लिए नहीं

तेरी विकृत आशाएँ हैं जिनके लिए दबा रखते हैं अपनी सत्
इच्छाएँ तेरे नौकर चाकर
वह बिरला ही होता है जो जीवन और माँगता है औ नहीं
माँगते थकता है।

किसे किसे तू बहलायेगा देकर वेतन-वृद्धि, विधाता
जिनका खण्डित व्रत जीवन का ? टुकड़ों में जो जी सकते हैं ?
उन उनको ? हाँ, शायद उन उनको। हाँ शायद।
पर जो टूटे नहीं, क्योंकि वे खिंच सकते हैं
जिन की समवेदना नहीं है व्यथा मात्र, वह अनुभव भी है
उन को, उन को, उन को आख़िर क्या कर देगा ?
जो अब अपने पड़ोसियों के भी कष्टों से उबर चुके हैं।

जब जब कोई बात किसी की मन को अपने लग जाती है
क्या उस सच को समझे बैठा होता है कहनेवाला
सरल नहीं है यों ही बैठे बैठे हम को दुख देना
आकस्मिक भी नहीं। इधर प्रस्तुत भी है सहनेवाला।
सहने का यह अर्थ नहीं है—'सहते जाओ, यही धर्म है यही
बचे रहने का रस्ता'
हम प्रस्तुत हैं, आज्ञा में नतमस्तक नहीं
न तुझ को उत्तरदायी हैं।
मत कह कि आज यह सह लेना।
कहाँ कहाँ तू वार करेगा ? जहाँ कवच है, वहाँ ?
वहाँ तो कोई केवल पिछला क्षत है
हाँ, यह अपनी दुर्बलता है—केवल एक मोह का होना
पर यदि तज दें यह ओछापन, और अगर यह कहें कि अपने
सभी अंग ही मर्मस्थल हैं ?
तेरे घातक अस्त्र हमारी तृष्णा पर तो चल जायेंगे
पर यदि यही विकलता अपने पुत्रों को भी हम दे जायें ?

स्वागत-सुख

इस से और सरलतर होगा इस स्वागत-सुख का अभिनन्दन ।

जैसे जैसे यह लिखता हूँ, छन्द बदन में नाच रहा है
मन जिस सुख को लिख आया है, फिर फिर उसको बाँच रहा है
विह्वलता स्तम्भित होगी यह, रच जायेगा मन में नर्तन
इस से और सरलतर होगा इस स्वागत-सुख का अभिनन्दन ।

यह उद्वेलन तो आकस्मिक, सुख का आना है सुनियोजित
वेग मानवोचित होता है, धैर्य हुआ करता पुरुषोचित
मद-गज-गति से मैं जाऊँगा, लाख बुलाये प्रत्याकर्षण
इस से और सरलतर होगा इस स्वागत-सुख का अभिनन्दन ।

हल्की सी आभा आने दे, चटक न रख खिड़की के परदे
कोने में आसनी बिछा दे, धूपदान को बाहर कर दे
धुआँ मात्र देगा जल कर के छोटे से कमरे में चन्दन
इस से और सरलतर होगा इस स्वागत-सुख का अभिनन्दन ।

माँग रहे हैं जीवन

अपनी उन्मद जीवन-आशा से हम दण्डित
माथे मुकुट व्यथा का बाँधे
इस क्षण की महिमा से मण्डित
हम वैज्ञानिक हैं, हम पण्डित हैं, हम खण्डित
शरणागत हम

विह्वल भोगी विकल विलासी हम नरनारी
उद्वेलित आन्दोलित आडोलित संसारी
निश्चल पीड़ा आज हमारी
डाल दिये हैं हमने काँधे

तेरे चरणों पर रख कर हम शिर स्वर्णोज्ज्वल
माँग रहे हैं जीवन, हे प्रिय, हे जीवितपल
क्षण जी लें तब आगामी क्षण तक पहुँचा दे
ये तन दुर्बल, हारे-माँदे

चरण-चिह्न

झझकती रेत : नंगे पैर
या पूनो : दुकेले सैर
पैरों के लिए कुछ भी नहीं है भिन्न
    चाहे आयँ चाहे जायँ
पग हर एक दुख का भार उतना ही उठाता है :
समय की रेत पर मेरे (बड़ों के) पदतलों के चिह्न
चाहे अमिट भी हो जायँ
        यानी हवा पानी या किलकती बालिकाओं
                का सुघर खिलवाड़

टस से मस न उन को कर सके
तो भी चरण के चिह्न अपनी दाब की
                गहराइयों में
क्या कहीं यह भी लिखा-सा छोड़ जायँगे
कि ऐसे रेत में चलना थकाता है ?

जभी पानी बरसता है

जभी पानी बरसता है तभी घर की याद आती है
यह नहीं कि वहाँ हमारी प्रिया, बिरहिन, धर्मपत्नी है—
यह नहीं कि वहाँ खुला कुछ है पड़ा जो भीग जायेगा—
बल्कि यह कि वहाँ सभी कमरों-कुठरियों की दिवालों पर
उठी छत है।

व्यथा

'दिन-ब-दिन तुम दुखी होते जा रहे हो
कौन सा दुख तुम्हें प्रियवर सालता है ?'
इस तरह से पूछते हो कुशल-मंगल तुम
बताऊँ क्या, कहा क्या जा सकेगा वह
वही जो मुझे तोड़े डालता है ?

क्यों नहीं : यह सत्य है यद्यपि कि उसके लिए सारे शब्द
छोटे हैं
कहूँ क्या ?—'विरह की ज्वाला', 'ग़रीबी', 'भूख'
'दिल का दर्द' अथवा दाँत का ?
न। यह पलायन है, व्यथा को एक दुख में देखना
यह उसे अंगीकार करना है
मनाना है कि उस की तात्कालिक तुष्टि भी मिल जाय।

सपने में देखा

रात कई व्यक्तियों को कई बार सपने में देखा
उन से कभी परिचित था, या हूँ
या होना चाहता था
या अब भी चाहता हूँ ।

वे सब स्त्रियाँ थीं ।

सुबह उठ दर्पण के सम्मुख आया तो मन कैसा हो गया
जिस की कुशलता के लिए चित्त हर समय अकुलाया रहता है
उसे क्यों नहीं देखा ?

मर्म

तू हतविक्रम श्रमहीन दीन
निज तन के आलस से मलीन
माना यह कुण्ठा है युगीन
पर तेरा कोई धर्म नहीं ?

यह रिक्त-अर्थ उन्मुक्त छन्द
संस्मरणहीन जैसे सुगन्ध,
यह तेरे मन का कुप्रबन्ध—
यह तो जीवन का मर्म नहीं ।

विदा

विदा, बन्धु, विदा
कातर अन्तर-आत्मा
विचलित परमात्मा में श्रद्धा
विदा आप को भी, परन्तु प्रिय—
सकुशल पहुँचने की दीजिएगा पाती
यह भी लिखिएगा कि याद मेरी आती
भी है कि नहीं।

अगम अगोचर जो जग का पालनकर्ता
वह क्या खा कर दुख देता या दुख हरता
आप मेरे प्रशंसक थे, गुणग्राहक थे
—आप से था डरता
आप को भी विदा।
मिटे तो किसी भाँति यह दुविधा।
विदा, बन्धु, विदा।

ओ रे साथी

ओ रे साथी मेरे यदि चरण थकें न मेरे
यदि मेरा मन थक जाय

ओ रे, उजाला उजाले में जो फूला न समाय
ओ रे, धूप में उघारे पीठ मन जो घमाय
यदि बैठे-बैठे यों ही
देह होवे झरसौंही
यदि तप-तप मन तच जाय

ओ रे, आँखों से दिखायी देवे सूनी-सूनी राह
ओ रे, कानों से सुनायी देवे कहीं से कराह
यदि दुखिया की हाय
पीछे दौड़ी-दौड़ी आय
यदि डर जाय मन, डर जाय

ओ रे, मन नहीं माने, यदि मन नहीं माने
ओ रे, माने नहीं मन बिना जाने पहचाने
कोई गह के छगुनियाँ
जिधर जाये दुनिया
उधर यदि मन नहीं जाय

दुनिया

हिलती हुई मुँडेरें हैं और चटख़े हुए हैं पुल
बरें हुए दरवाज़े हैं और धँसते हुए चबूतरे
दुनिया एक चुरमुरायी हुई सी चीज़ हो गयी है
दुनिया एक पपड़ियायी हुई सी चीज़ हो गयी है

लोग आज भी ख़ुश होते हैं
पर उस वक़्त एक बार तरस ज़रूर खाते हैं
लोग ज़्यादातर वक़्त संगीत सुना करते हैं
पर साथ साथ और कुछ ज़रूर करते रहते हैं
मर्द मुसाहबत किया करते हैं, बच्चे स्कूल का काम
औरतें बुना करती हैं—दुनिया की सब औरतें मिल कर
एक दूसरे के नमूनोंवाला एक अनन्त स्वेटर
दुनिया एक चिपचिपायी हुई सी चीज़ हो गयी है।

लोग या तो कृपा करते हैं या ख़ुशामद करते हैं
लोग या तो ईर्ष्या करते हैं या चुग़ली खाते हैं
लोग या तो शिष्टाचार करते हैं या खिसियाते हैं
लोग या तो पश्चात्ताप करते हैं या घिघियाते हैं
न कोई तारीफ़ करता है न कोई बुराई करता है

न कोई हँसता है न कोई रोता है
न कोई प्यार करता है न कोई नफ़रत
लोग या तो दया करते हैं या घमण्ड
दुनिया एक फँफुदियायी हुई सी चीज़ हो गयी है।

लोग कुछ नहीं करते जो करना चाहिए तो लोग करते क्या हैं
यही तो सवाल है कि लोग करते क्या हैं अगर कुछ करते हैं
लोग सिर्फ़ लोग हैं, तमाम लोग, मार तमाम लोग
लोग ही लोग हैं चारों तरफ़ लोग, लोग, लोग
मुँह बाये हुए लोग और आँख चुँधियाये हुए लोग
कुढ़ते हुए लोग और बिराते हुए लोग
खुजलाते हुए लोग और सहलाते हुए लोग
दुनिया एक बजबजायी हुई सी चीज़ हो गयी है।

सभी लुजलुजे हैं

सभी लुजलुजे हैं,
मोलतोल करते हैं, हिचकिचाते हैं, मुकर जाते हैं
ऐंठते हैं, बिछ जाते हैं
तपाक से मिलते हैं, कतरा जाते हैं
बीड़ा उठाते हैं, बरा जाते हैं
सभी लुजलुजे हैं
गिजगिज हैं, गिलगिल हैं ।

खौंखियाते हैं, किंकियाते हैं, घुन्नाते हैं
चुल्लू में उल्लू हो जाते हैं
मिनमिनाते हैं, कुड़कुड़ाते हैं
सो जाते हैं, बैठ रहते हैं, बुत्ता दे जाते हैं ।

झाँय भ्ाँय करते हैं, रिरियाते हैं,
टाँय टाँय करते हैं, हिनहिनाते हैं
गरजते हैं, घिघियाते हैं

ठीक वक्त पर चीं बोल जाते हैं
सभी लुजलुजे हैं, थुलथुल हैं, लिबलिब हैं,
पिलपिल हैं,
सब में पोल है, सब में झोल है, सभी लुजलुजे हैं।

शान्ति दो

शान्ति दो, शान्ति दो
चाहे वह क्रान्ति की बहन ही क्यों न हो
और वह नही दो तो क्रान्ति ही दो
फिर चाहे शान्ति भी दे देना

पर तब दया करके वह नहीं
जो क्रान्ति की बहन है ।

झेल लेंगे

प्यारे क्या हाल हैं तुम्हारे, हमारी भी
याद कभी भूले भटके ही कर लिया करो
क्षण भर विद्रोह कर, विछोह के अकेलेपने
की मोह-माया से उबर लिया करो
अपनी कथा की व्यथा का अथाह शून्य
मेरे छटंकी भर दुख से भर लिया करो
उसे क्या करोगे कम वह जो दरद है
हाँ थकन हमारी कभी-कभी हर लिया करो।

बैठे हो मौन, कहीं ठहरे हो अनुभव में ?
पैठे हो गहरे कि बैठे हो भरे हुए ?
क्षण में जीवित हो कि क्षणक्षण जीवित हो
कि क्षण में हो जीवित और क्षण में मरे हुए
हमने तो सहा था (कहा है किसी और ने)
जो हम कभी थे अब कह कर दूसरे हुए
तुम मत भुलाना बन्धु, सह लेना, जी लेना
हाँ जी को थोड़ा और पोढ़ा करे हुए।

मन की द्विधा है यह डूबा है गहरे वह
किन्तु नहीं डूबा है किसी एक रंग में
मन ही था कोई काली कामरी तो नहीं
था कि कर लेता सब रंग अपने ढंग में
ऐसे रंग-ढंग देख कर के हमारे ठीक
ही तो है काहे को रहोगे तुम संग में
कोई क्यों संग हो, जो संग हो तो जिये संग
जूझ क्यों मरे संग मन की इस जंग में।

आप में और हम में सम्बन्ध एक ही है
यदि आप चढ़े कोठे तो खड़े हम दुवारे हैं
अपने दुवारे हैं आप के दुवारे नहीं
हैं तो हैं, आप की बला से दुखियारे हैं
दुख से हैं दीन, क्या इसी से हैं हीन
थके हारे हैं, क्या हम इसी से बिचारे हैं ?
आप की सहानुभूति सुलभ है, विभूति कष्ट
की यह दुर्लभ है हम जिसके रखवारे हैं।

ऐसे दीनहीन असहाय हो के आये हो
कि जैसे कोई चुटकी संवेदना की दे देगा
ऐसे चिकने बने हो हट्टे कट्टे धरे हो कि
तुम्हें कोई काँटा कैसे कहाँ और क्यों छेदेगा

माँगने से मिलती नहीं है तुष्टि वेदना की
कोई बाप तुम्हें झुनझुनिया न ले देगा
जाओ कोई काम करो, हमें न बेराम करो
ऐसे ढोंगी मँगते को हर कोई खेदेगा।

कहिए कि धीर धरें, पीर यदि परायी हो
तो उस की यह एक भली तदबीर है
और जो कि अपनी हो, तो सुनिए बैठ कर
कथा महाभारत की है या कि पीर है
प्रेमिका की हो तो न कष्ट आप व्यर्थ करें,
प्रेमी बात का धनी और घर का अमीर है
जग की हो तो कोई बात नहीं झेल लेंगे,
झेलने को बैठा हुआ यहाँ रघुवीर है।

अगर कहीं मैं तोता होता

अगर कहीं मैं तोता होता

तोता होता तो क्या होता ?
तोता होता ।
होता तो फिर ?
होता, 'फिर' क्या ?
होता क्या ? मैं तोता होता ।
तोता तोता तोता तोता
तो तो तो तो ता ता ता ता
बोल पट्ठे सीता राम

प्रभु की दया

बिल्ली रास्ता काट जाया करती है
प्यारी-प्यारी औरतें हरदम बकबक करती रहती हैं
चाँदनी रात को मैदान में खुले मवेशी
आ कर चरते रहते हैं

और प्रभु यह तुम्हारी दया नहीं तो और क्या है
कि इन में आपस में कोई सम्बन्ध नहीं

रूमाल

वह मेरा रूमाल कहाँ है ?
कहाँ रह गया ?
कहीं उसे मैं छोड़ न आया हूँ कुर्सी पर ? वह कितना
मैला था
उस से मैंने जूता नाक पसीना और कलम की निब
पोंछी थी ।

पढ़िए गीता

पढ़िए गीता
बनिए सीता
फिर इन सब में लगा पलीता
किसी मूर्ख की हो परिणीता
निज घरबार बसाइये ।

होंय कँटीली
आँखें गीली
लकड़ी सीली, तबियत ढीली
घर की सब से बड़ी पतीली
भर कर भात पसाइये ।

थके हैं

बन्धु हम दोनों थके हैं
और यह तो भाग्य ही है साथ ही हम थक सके हैं।

"और पैदल मत चलाओ"

"इस नयी बनती सड़क पर पालकी तो क्या मिलेगी
हाँ, कहीं कोई भलामानस सफ़रमैना भले मिल जाय
गोरी, तब तलक धीरे चलो,
सर पर घड़ा औ घड़े पर गागर ! कहीं गगरी छलक···
(अधजल अगर हो क्यों न छलकेगी)···छलक नहिं जाय।"

बन्धु हम दोनों थके हैं
और जो हम में बची है शक्ति, अपने ही भरे की है।

"अरे, यह बक्स तुम ले लो,
हमें वह पोटली दे दो"

"भला ऐसे कहीं बँट जायगा बोझा ?
तकल्लुफ़ क्या हमीं से कीजिएगा ?
छेड़छाड़ बुरी नहीं, पर चाहतीं हो आप
उस से रास्ता कट जाय ?
न् न् ।"

बन्धु हम दोनों थके हैं
और थकते ही रहें तो साथ चलते भी रहेंगे
वह नहीं है साथ जिस में तुम थको तो हम तुम्हें लादे फिरें
औ हम थकें तो दम तुम्हारा फूल जाये—हाय ।

हकीम

तूने पीछे से आ कर मुझ को चूम लिया
मैं तुझे चूमने को थोड़ा सा घूम लिया
बस, जी हलका हो गया, आ गया मैं फिर से
वापस, काग़ज़-पत्तुर-फ़ाइल की ख़िदमत पर ।

वह दर्द याद आता था मुझ को आफ़िस में
सोतानींदी में रहा रात भर मैं जिस में
इतने में आकर तू ने यह राहत दे दी
ऐ वा हकीम, सिदक़े जाऊँ इस हिकमत पर ।

ऐ नीमहकीम ख़तरएजान, बख़्शिए मुझे
ये अललटप्प ख़ूराकें मत दीजिए मुझे
ये छोटी-छोटी पुड़ियाँ—जो मज़दूरी ही
करने की ताक़त दें—क्यों लूँ इस क़ीमत पर ?

तर्क

यदि आप एक से सच्चा प्यार कर सकते हैं तो दो से भी
कर सकते हैं
यदि आप किसी को एक रूप में प्यार कर सकते हैं तो
दूसरे रूप में भी कर सकते हैं
यदि आप प्यार कर सकते हैं तो आप बाक़ी सब कुछ भी कर
सकते हैं
यदि आप नहीं कर सकते हैं तो आप ख़ुश रहिए, आप ख़ुशी
से मर सकते हैं।

समझौता

छद्मनाम को कीर्ति मिली है (मेरा कोई दोष नहीं !)
समझौता यह था, हम दोनों मिल कर नाम कमायेंगे
जो कुछ नामा घर आयेगा, बाँट-बूँट कर खायेंगे
इस की बेईमानी देखी ? मेरा हिस्सा मार दिया
मेरी बदनामी को भी ले कर इस को सन्तोष नहीं ?

चेंज

किसी ने दोस्त से अपने कहा, "कुछ चेंज कम पड़ गयी है;
क्या है ?"
दुखी मैं भी खड़ा था, कहा "है, पर आप क्यों मुझसे
भला लेगें ?
न मेरा आप दुख जानें
न मैं दुख आप का जानूँ।"

होती

किसी महीने की आख़िरी रात चाँदनी से उजाली होती
किसी नवीना ने अपनी हल्की सफ़ेद सारी निकाली होती
यहाँ तिमंज़िले पे इस तरह की हवा मज़ेदार आ रही है
कि सोचने अब लगे हैं हम भी हमारे भी एक साली होती

घड़ी

समय की गति क्या तुम्हारे हाथ में है, ऐ घड़ी
हमें रहती है हमेशा एक तरह की हड़बड़ी
वह तुम्हारी ही वजह से क्या
कि हम ही आलसी हैं ?

घड़ी—२

नियमित नाप समय की करती है घड़ी
उसे क्या पता किस पर क्या बिपता पड़ी
उसे समय का इस्तेमाल कहाँ पता
वरना वह टिकटिक करती छोटी बड़ी ।

घड़ी—३

घड़ी नहीं कहती है 'डिग' जा अपने पथ से
डिग जाने पर घड़ी नहीं कहती है 'धिक्'
और यह तो वह कभी नहीं कहती है, साथी 'ठीक' है
वह कहती है टिक-टिक-टिक-टिक-टिक-टिक-टिक
और टिक-टिक-टिक-टिक
और टिक-टिक-टिक
और टिक-टिक
और टिक
और टिक
और टिक
टिक्।

तुम जाना

अब तुम जानो, तुम्हारा काम जाने ।

हमने जो तुम से करीं सच कनबतियाँ
कानों में उँगली दे दी
मुँह पे छा गयी सफ़ेदी
ऐसे चौंकी जैसे छू दी हों तुम्हारी छतियाँ
अय हम तो चल के आये थे तुम्हीं को ये बताने
अब तुम जानो तुम्हारा काम जाने ।

हमें कोई जल्दी नहीं, कान में है डाल दी
जल्दी का काम नहीं—
—और ये भी आसान नहीं
तुमने इस कान सुनी उस कान निकाल दी—
अय बात तो ऐसी है लगे जीभ खुजलाने
अब तुम जानो तुम्हारा काम जाने ।

तुम्हें क्या पता कि मेरे दिल पे कैसी आफ़त आयी
मुझ को तुम से प्यार हुआ

जिया बेक़रार हुआ
हम ने तो भाई अपने दिल की है बतायी
अय तुम्हारे मन की तो तुम्हारा राम जाने
अब तुम जानो तुम्हारा काम जाने ।

अब से जो कुछ कहना हो

अब से जो कुछ कहना हो वह
रंगों में ढाल लिया करना
यों इन गूँगे-बहरों को तुम
कुछ अपना हाल दिया करना
हाँ इतना और भला करना
जब कुछ तसवीरें बन जायें
अपने उन चील-बिलौटों पर
तारीख़ें डाल दिया करना

जो अब कहने को करते हैं

जो अब कहने को करते हैं
वह पहले ही सह आये थे
जो अब सच होता जाता है
वह पहले ही कह आये थे

फिर से वह दर्द जगाती हैं
ये अपनी पिछली कविताएँ।

जिस सच को हम ने खोजा था
उतने थोड़े से अनुभव में
कुछ और ज़िन्दगी जी आये
उस एक सचाई की रौ में

आगे भी राह दिखाती हैं
ये अपनी पिछली कविताएँ।

तब तो बस ख़ुश हो लेते थे
दिल का दुख दर्द जता करके

कुछ कला-वला हो जाती थी
गाते थे भाव बता करके

अब काम हमारे आती हैं
ये अपनी पिछली कविताएँ ।

आज फिर शुरू हुआ

आज फिर शुरू हुआ जीवन
आज मैंने एक छोटी सी सरल सी कविता पढ़ी
आज मैंने सूरज को डूबते देर तक देखा

जी भर आज मैंने शीतल जल से स्नान किया

आज एक छोटी सी बच्ची आयी, किलक मेरे कन्धे चढ़ी
आज मैंने आदि से अन्त तक एक पूरा गान किया

आज फिर जीवन शुरू हुआ।

वसन्त आया

जैसे बहन 'दा' कहती है
ऐसे किसी बँगले के किसी तरु (अशोक ?) पर कोई चिड़िया
कुऊकी
चलती सड़क के किनारे लाल बजरी पर चुरमुराये पाँव तले
ऊँचे तरुवर से गिरे
बड़े बड़े पियराये पत्ते
कोई छः बजे सुबह जैसे गरम पानी से नहायी हो—
खिली हुई हवा आयी, फिरकी सी आयी, चली गयी।
ऐसे, फ़ुटपाथ पर चलते चलते चलते
कल मैंने जाना कि वसन्त आया।

और यह कैलेण्डर से मालुम था
अमुक दिन अमुक वार मदनमहीने की होवेगी पंचमी
दफ़्तर में छुट्टी थी—यह था प्रमाण
और कविताएँ पढ़ते रहने से यह पता था
कि दहर-दहर दहकेंगे कहीं ढाक के जंगल
आम बौर आवेंगे
रंग-रस-गन्ध से लदे-फँदे दूर के विदेश के
वे नन्दनवन होवेंगे यशस्वी

मधुमस्त पिक भौंर आदि अपना-अपना कृतित्व
अभ्यास कर के दिखावेंगे

यही नहीं जाना था कि आज के नगण्य दिन जानूँगा
जैसे मैंने जाना, कि वसन्त आया ।

धूप

देख रहा हूँ
लम्बी खिड़कीपर रक्खे पौधे
धूपकी ओर बाहर झुके जा रहे हैं
हर सालकी तरह गौरैया
अबकी भी कार्निसपर ला-ला के धरने लगी है तिनके
हालाँकि यह वह गौरैया नहीं
यह वह मकान भी नहीं
ये वे गमले भी नहीं, यह वह खिड़की भी नहीं
कितनी सही है मेरी पहचान इस धूपकी ।

कितने सही हैं ये गुलाब
कुछ कसे हुए और कुछ झरने-झरनेको
और हल्की-सी हवामें और भी, जोखमसे
निखर गया है उनका रूप जो झरनेको हैं ।

और वे पौधे बाहरको झुके जा रहे हैं
जैसे उधरसे धूप इन्हें खींचे लिये ले रही है
और बरामदेमें धूप होना मालूम होता है
जैसे ये पौधे बरामदेमें धूप-सा कुछ ले आये हों ।

और तिनका लेने फुर्रसे उड़ जाती है चिड़िया
हवाका एक डोलना है : जिसमें अचानक
कसे हुए गुलाब की गमक है और गर्मियाँ आ रही हैं–
हालाँकि अभी बहुत दिन हैं–
कितनी सही है मेरी पहचान इस धूपकी !

और इस गौरैयाके घोंसलेकी कई कहानियाँ हैं
पिछले सालकी अलग और उसके पिछले सालकी अलग
एक सुगन्ध है
बल्कि सुगन्ध नहीं एक धूप है
बल्कि धूप नहीं एक स्मृति है
बल्कि ऊष्मा है, बल्कि ऊष्मा नहीं
सिर्फ़ एक पहचान है
हल्की-सी हवा है और एक बहुत बड़ा आसमान है
और वह नीला है और उसमें धुआँ नहीं है
न किसी तरहका बादल है
और एक हल्की-सी हवा है और रोशनी है
और यह धूप है, जिसे मैंने पहचान लिया है
और इस धूपसे भरा हुआ बाहर एक बहुत बड़ा नीला
आसमान है
और इस बरामदेमें धूपऔर हल्की-सी हवा और एक वसन्त।

गले हमारे डाल सखी

बाहें ये गले हमारे डाल, सखी
मेरे कन्धोंपर आ जायें ये बिखरे बाल, सखी

ओठोंपर ओंठ दहकते हों
आँखोंपर आँखे मुँद जायें
भुजबन्धन कसता जाये—
यह आतुर तन उस तनमें धँसता जाये
थक जायें
थक जायें तेरे कुच मेरे सीनेपर धक्-धक् कर के
फड़कें
फिर रह जायें गुम्फित जंघाएँ
हो जाये वह क्षण जीवन-मरण-विशाल, सखी

वसन्त

वही आदर्श मौसम
और मन में कुछ टूटता-सा :
अनुभव से जानता हूँ कि यह वसन्त है ।

नारी

नारी बिचारी है
पुरुषकी मारी है
तनसे क्षुधित है
मनसे मुदित है
लपककर झपककर
अन्तमें चित है

इतना ग़ुस्सा

चिटख़ती क्यों हो
इतना ग़ुस्सा !
बोसा भी तो नहीं
लिया है सिर्फ़ बुस्सा ।

इतनेमें किसीने

धुला हुआ कमरा है; छत तक दीवालें हैं
दौड़ी हुई ऊँची, सफ़ेद, साफ़, सादी
चुपचाप गोदमें किताब एक मोटी
बन्द रख कर मैं बैठा रहने का हूँ आदी
आख़िर कब तक यों ही धोता रहूँगा मैं
दूसरोंके मैले विचारोंकी लादी
अथवा शिवलिंग-सा होकर प्रतिष्ठित यहाँ
सोचता रहूँगा 'क्यों करूँ मैं शादी ?'
पता नहीं क्यों यह सामाजिक व्यवधान
तुला है करनेपर मेरी बरबादी
मेरी प्रतिभाका कहीं मान नहीं, छिः छिः यह
नवयुग आज़ादीका, नवयुगकी आज़ादी !
इतनेमें किसीने टोक कर जैसे डपट दिया
"देख, सुन, समझ, अरे घरघुस जनवादी !"
चौंक देखा कोई नहीं, सुना केवल ढप्-ढप्
आँगनमें गेहूँका कूड़ा फटक रहीं
सोलह सेर वाले दिन देखे हुईं दादी ।

सुकविकी मुश्किल

ये और आया है एक हल्ला, जो बच सकें तो कहो कि बचिए
जो बच न पायें तो क्या करूँ मैं, जो बच गये तो बहुत समझिए
सुकवि की मुश्किलको कौन समझें, सुकवि की मुश्किल सुकवि की मुश्किल
किसी ने उनसे नहीं कहा था कि आइए आप काव्य रचिए।

परिवर्त्तन

जानता हूँ उन सभी परिवर्तनोंको
जो कि मुझमें अभी तक होते रहे हैं
देखिए ना,
पड़ा रहता था कभी मैं किलकता या अँगूठेको चूसता
या कभी पइयाँ फेंकता अपने खटोलेमें
तथा अब, बहुत कम, केवल ज़रूरत आ पड़े तब बोलता हूँ।

भूले हुए शब्दकी जगह

कितनी धड़कती भीड़ोंमें से ले आया
याद करना प्रार्थनाके उस गीतका उसकी ठीक स्वरलिपिमें

जो पंक्ति आधी याद थी
उसपर घुमड़ कर खिल गयी एक नयी तितली,
धूप और फूल सहित सम्पूर्ण।

और एक शब्द भूले हुए शब्दकी जगह रच गया जो
कवि देखता तो कह नहीं पाता कि वह उसका नहीं है।

आह, कितनी अच्छाइयाँ

आह, कितनी अच्छाइयोंमेंसे गुज़रा हूँ कि उनको सूत्रबद्ध
कर सकता हूँ
त्रुटिहीन ताल और लयकी अनेक, देर तक वर्तमान
कृतियाँ हैं, दूसरोंकी, मेरी ओर फेंकी हुई, मेरे लिए
याद करता हूँ, वहाँ तक स्मृति जाती है जहाँ एक दीवाल है
और गरज कर लौट आती है अनेक चित्रोंको नहलाती हुई।

बुनाइयों और छपाइयोंको पसन्द करनेवाले उन लोगोंके घरोंकी
सजावटोंमें जो अच्छे हैं, सूखा और सुरक्षित
मैं लौट आता हूँ। थकान और आधे अँधेरे आधे उजाले
के अनेक सम्पुजनों में से एक सम्पूर्ण हो जाता है
और लोगोंकी मुसकराहटें
असंख्य और असंख्य और असंख्य जीवन-बाधाओंके ऊपर
अलग-अलग मुक्त और प्रकट हैं।

वसन्तकी हवाएँ

और ये वसन्तकी हवाएँ
दक्षिणसे नहीं चारों ओर खुली-खुली चौड़ी सड़कोंसे आयें

धूल, और एक जाना हुआ शब्द

जैसे मेरे लिखे लेख, पत्र, कविताएँ
काग़ज़के साफ़-साफ़ बड़े-बड़े पेज वहाँ उड़ते हों।

चाँदकी आदतें

चाँदकी कुछ आदतें हैं ।
एक तो वह पूर्णिमाके दिन बड़ा-सा निकल आता है
बड़ा नक़ली (असल शायद वही हो) ।
दूसरी यह, नीमकी सूखी टहनियोंसे लटक कर ।
टँगा रहता है (अजब चिमगादड़ी आदत !)
तथा यह तीसरी भी बहुत उम्दा है
कि मस्जिदकी मिनारों और गुम्बदकी पिछाड़ीसे
ज़रा मुड़िया उठा कर मुँह बिराता है हमें !
यह चाँद ! इसकी आदतें कब ठीक होंगी ?

भक्ति है यह

भक्ति है यह
ईश-गुण-गायन नहीं है
यह व्यथा है
यह नहीं दुखकी कथा है
यह हमारा कर्म है, कृति है
यही निष्कृति नहीं है
यह हमारा गर्व है
यह साधना है—साध्य विनती है।

दे दिया जाता हूँ

मुझे नहीं मालूम था कि मेरी युवावस्थाके दिनोंमें भी
यानी आज भी
दृश्यालेख इतना सुन्दर हो सकता है :
शामको सूरज डूबेगा
दूर मकानोंकी क़तार सुनहरी बुन्दियोंकी झालर बन जायेगी
और आकाश रंगारंग होकर हवाई अड्डेके विस्तारपर उतर
आयेगा
एक खुले मैदानमें हवा फिरसे मुझे गढ़ देगी
जिस तरह मौक़ेकी माँग हो :
और मैं दे दिया जाऊँगा ।

इस विराट नगरको चारों ओरसे घेरे हुए
बड़े बड़े खुलेपन हैं, अपनेमें पलटे खाते बदलते शामके रंग
और आसमानकी असली शकल ।
रातमें वह ज़्यादा गहरा नीला है और चाँद
कुछ ज़्यादा चाँदके रंगका
पत्तियाँ गाढ़ी और चौड़ी और बड़े वृक्षोंमें एक नयी ख़ुशबू-
वाले गुच्छोंमें सफ़ेद फूल

अन्दर, लोग;
जो एक बार जन्म ले कर भाई बहन माँ बच्चे बन चुके हैं
प्यारने जिन्हें गला कर उनके अपने साँचोंमें हमेशाके लिए
ढाल दिया है
और जीवनके उस अनिवार्य अनुभवकी याद
उनकी जैसी धातु हो वैसी आवाज़ उनमें बजा जाती है

सुनो सुनो, बातोंका शोर;
शोरके बीच एक गूँज है जिसे सब दूसरोंसे छिपाते हैं
—कितनी नंगी और कितनी बेलौस !—
मगर आवाज़ जीवनका धर्म है इसलिए मढ़ी हुई करतालें
बजाते हैं

लेकिन मैं,
जो कि सिर्फ़ देखता हूँ, तरस नहीं खाता, न चुमकारता, न
क्या हुआ क्या हुआ करता हूँ।
सुनता हूँ, और दे दिया जाता हूँ।
देखो, देखो, अँधेरा है
और अँधेरेमें एक ख़ुशबू है किसी फूलकी
रोशनीमें जो सूख जाती है

एक मैदान है जहाँ हम तुम और ये लोग सब लाचार हैं
मैदानके मैदान होने के आगे।
और खुला आसमान है जिसके नीचे हवा मुझे गढ़ देती है

इस तरह कि एक आलोककी धारा है जो बाँहोंमें लपेट कर छोड़
देती है और गन्धाते, मुँह चुराते, टुच्ची-सी आकांक्षाएँ बार बार
ज़बानपर लाते लोगोंमें

कहाँसे मेरे लिए दरवाज़े खुल जाते हैं जहाँ ईश्वर
और सादा भोजन है और
मेरे पिता की स्पष्ट युवावस्था।
सिर्फ़ उनसे मैं ज़्यादा दूर दूर तक हूँ
कई देशों के अधभूखे बच्चे
और बाँझ औरतें, मेरे लिए
संगीतकी ऊँचाइयों, नीचाइयोंमें गमक जाते हैं
और ज़िन्दगी के अन्तिम दिनों में काम करते हुए बाप
काँपती साइकिलों पर
भीड़ में से रास्ता निकाल कर ले जाते हैं
तब मेरी देखती हुई आँखें प्रार्थना करती हैं
और जब वापस आती हैं अपने शरीर में, तब वह दिया जा
चुका होता है।
किसी शाप के वश बराबर बजते स्थानिक पसन्द के परेशान
संगीत में से
एकाएक छन जाता है मेरा अकेलापन
आवाज़ों को मूर्खों के साथ छोड़ता हुआ
और एक गूँज रह जाती है शोर के बीच जिसे सब दूसरों
से छिपाते हैं
नंगी और बेलौस,
और उसे मैं दे दिया जाता हूँ।

लेखकके चारों ओर

लेख

लेखककी नोटबुकसे

एक

सबसे बड़ा आत्महनन जो किया जा सकता है वह है 'लिखना'। अब हम कैसे बतायें कि लिखना कितना बड़ा दर्द है, कितना बड़ा त्याग है। बताना मुश्किल है क्योंकि वह कई एक ऐसी वस्तुओंका त्याग है जिन्हें साधारणतया कोई महत्त्व नहीं दिया जाता।

कितना मोह है जीवनसे। जानता हूँ कि जैसे सभी जीते हैं, जिया करते हैं, वैसे जीनेमें कोई कर्म नहीं है मज़दूरी ही है। 'कर्म' 'रचना' 'सृजन'—छोटे शब्द प्रयोग किये जायें या बड़े उस व्यापारकी जो महत्ता है, वह है। वह साधारण जीवनसे ऊपर है और उसमें निहित कठिनाई यह है कि उसका आदर्श साधारण जीवन ही है। वह ऐसे कलाकारका कर्त्तव्य है जो सामाजिक जीवनको कर्मयुक्त जीवन बनाना चाहता है पर जिसका कर्म वही नहीं है जो समाजमें कर्त्तव्य है। इसलिए उसका कर्म एक शाश्वत आदर्श है, तात्कालिक धर्म नहीं : आज, तुरन्त प्रतिकृत हो जानेवाला कोई ढकोसला नहीं, अपनी क्षुद्र वैयक्तिक सीमामें प्राप्त कोई शारीरिक गुदगुदी नहीं, बल्कि एक शान्त कायाकल्प।

तात्कालिक कर्म क्या है ? अवसरका लाभ उठाना या इस क्षणका कर्त्तव्य करना ? मोह हमें होता है। क्यों न होगा, बल्कि हमें तो और भी होगा, क्योंकि हम अपनी जीनेकी ललकको

किसी छोटी तुष्टिसे, या कई छोटी-छोटी तुष्टियोंसे मार देना नहीं चाहते—ऐसे अल्पसन्तोषी हम नहीं। वे और होंगे जो रोज़ नये सिरेसे दिन शुरू करते हैं—इस भोजनसे उस भोजन तक अपनी व्यथा स्थगित करते जाते हैं। हमें तो बहुत भूख लगती है—बहुत ! खाना-पीना, उठना-बैठना, पहनना-ओढ़ना, हँसी-मज़ाक, प्रेम, आदर, भक्ति सबके लिए हम छटपटाते रहते हैं—और अभी कुछ मिल जाता है तो उसका मज़ा तो लेते नहीं, बैठकर सोचने लगते हैं कि अगली बार वह मिलेगा या नहीं। अच्छा, यदि हम जीवनकी इन अनेक इच्छाओंमें-से कोई एक पूरी कर सकें और उसकी ख़ूब अति करें—ख़ूब शराब पीने लगें, ख़ूब जुआ खेलने लगें, ख़ूब रंडीबाज़ी करें, या कुछ ऊँचे बौद्धिक स्तरपर हों तो प्रेममें सब कुछ गँवा बैठें—तो क्या जीवनके प्रति वह मोह कहलायेगा। वह तो एक तिरस्कार्य लालच है और तृष्णाका अपमान है। जो कहा गया है कि भोग करनेके लिए त्याग करो—सो ठीक ही है, चाहे हम अपने ढंगसे ही उसका अर्थ लगाकर उसे ठीक मान रहे हों। इन शब्दोंके अर्थ बदल गये हैं, अब ये केवल कृती, कलाकार, योद्धाके लिए प्रयुक्त किये जायँ—विशिष्ट व्यक्तियोंके लिए—जो विशिष्ट हैं क्योंकि इसे कर सकते हैं।

उनका दायित्व रचनाका है। अपने जीवनकी परिधिमें आनेवाले दैनन्दिन उपभोगकी लालसा और विशदतर सामाजिक जीवनकी रचनामें जो द्वन्द्व है उसमें रणरणित होते रहनेका दायित्व उनका है। सम्प्रति, उपभोगमें स्वास्थ्य नहीं है—हो ही कैसे सकता है जब उपभोग्य ही अपूर्ण अतएव विकृत है।

इसलिए अनुभव करना चाहिए और उसका स्वार्थ भूल जाना चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि जो कुछ हम सह चुके हैं वैसेका-वैसा काग़ज़पर उतारा जाकर विशिष्ट कला ही कहलाये। हम अनुभव करें तो उस समय जीनेके लिए ही क्यों करें ? उस अनुभवको बादके विशाल जीवनमें लादे हुए नहीं, लिये हुए चलनेके लिए अनुभव करें। उसे उदारतासे किसीको दें न डालें—दे सकते नहीं क्योंकि वह तनपर अंकित हो जाता है—पर उसके हेतुको नष्ट कर दें अन्यथा उसे कन्धेपर लादे-लादे घूमेंगे और पछतायँगे। न हम ऐसे शंकर हैं न वह ऐसा सती। हम उसका अर्थ आसानीसे हृदयमें लिये घूम सकते हैं और पछताना भी नहीं पड़ेगा।

···वह सत्य जो हम पायेंगे हमारा होगा पर वह हमारा तभी होगा जब वह हमारा नहीं रह जायगा। जो उपलब्धि केवल हमारी है वह एक निम्न बौद्धिक स्तरकी रचना है। जिस सत्य को हम देख आये हैं उसे सबमें देखें जिनके हम हितैषी हैं—वह हमारा स्वानुभूत तो हो, सहानुभूत भी हो।

दो

जैसे ही मैं लिखने बैठा सब भूल गया; 'जानता हूँ कि मैं कुछ रचने जा रहा हूँ', यह सन्तोष मानो परम हो गया और जहाँ परम सन्तोष है वहाँ रचना कहाँ।

पर ऐसा क्यों हुआ ? यह भी जानता हूँ कि इस वक़्त मुझे लोग लिखते हुए देख रहे हैं और यह ऐसा ही है जैसे किसीको

प्यार करते हुए देखना, फिर भी उनकी मज़ेमें अवहेलना कर सकता हूँ क्योंकि जो मुझे लिखता देख रहे हैं वे नहीं जानते कि मैं जो लिखना चाहता था वह भूल गया हूँ और जो लिख रहा हूँ वह उस क्षणके निरन्तर बादकी उत्पत्ति है जिसमें मैंने पाया था कि मैं देखा जा रहा हूँ। वास्तवमें यह जो लिख रहा हूँ रचना नहीं है : अधिकसे-अधिक, हाथसे बिछले हुए एक क्षणको वहीं छोड़कर आगे दौड़ते जाना है—इस आशामें कि उस हानिने जो शून्य निर्मित कर दिया है वह मुझे ग्रस न ले--क्या लिखना चाहता था यह भूल जानेपर भी—'भूल गया हूँ' यह लिखनेकी शक्ति मुझसे छिन न जाय।

तो, यह जो कुछ मैंने लिखा है वह अगर न लिखता तो आपने कुछ खोया न था, पर वह लिख सका हूँ यह मेरे लिए एक खोयी सृष्टिकी क्षतिपूर्ति है।

यद्यपि ऐसा कहनेका कोई अर्थ नहीं; क्षतिपूर्ति कभी हो ही नहीं सकती है—जो कुछ अभी हुआ है वह उसका स्थान कैसे ले सकता है जो हो चुका है पर लिखा नहीं गया : अलबत्ता यह सन्तोष मुझे है कि जो मैंने खोया था वह खोया गया नहीं, वह अब इन शब्दोंसे घिर गया है, पर वह क्या है यह मैंने आपको नहीं बताया है और शायद इसी अर्थमें मैंने उसे खो दिया है।

तीन

मेरे लिए ईमानदारी अनुभूतिकी है, धर्म या मत या कर्तव्य की नहीं—जो यही चीज़ है कि कोई भी रचना, चाहे वह किसी-

से व्यवहार करना हो, चाहे कहानी लिखना, मेरे द्वारा तभी हो सकती है जब मेरा मन गवाही दे।

बौद्धिकता और आत्मानुभूतिमें कोई विरोध नहीं देखता; बौद्धिकता अधिकसे-अधिक एक तैयारी है, एक इक्विपमेंट है, मानवीय जीवनके अभी तकके इतिहासको—जो अनुभवोंकी अनेक परम्पराओंका भण्डार है—समझने और आगे रचनेका साज-सामान है। समवेदना जो कि काव्यका उत्स है उससे कैसे क्लिष्ट हो सकती है, यह नहीं समझता। जिससे अपनी रक्षा करनी है वह निर्ममता है और निर्ममता अन्ततः वास्तविकताको आत्मसात् न कर पानेकी दशा है। सामान्य आलोचक जिसे सहृदयताविरोधी बौद्धिकताका नाम देते हैं वही दृष्टि जीवनकी समग्रताको आत्मसात् कर सकती है। प्रयत्न जिसका मैंने उल्लेख किया था अनुभूतिके पहलेकी इसी तैयारीका नाम है। पुस्तक, जो कि ख़ुद वास्तविकताका एक अंग है—या जीवनके अन्य क्षेत्र जो कि उसके अभिन्न अंग हैं, इस तैयारीके केवल साधन हैं और यह तैयारी ख़ुदमें न साधन है न साध्य है बल्कि सिर्फ़ एक तैयारी है जो कविको अपनी रचनाके लिए मुक्त छोड़ देती है। यह तैयारी सोद्देश्य हो इसमें ख़तरा है और वह ख़तरा इसीलिए है कि उसमें कविको जो चाहे लिखनेकी लोक-तन्त्रीय स्वाधीनता होनेपर भी, जो अनिवार्य है वह लिखनेकी मुक्ति नहीं है।

चार

नये लेखकोंको उनके दायित्वका ध्यान गुरुजन अक्सर दिलाया करते हैं; कभी-कभी द्रवित होकर उनकी समस्याओंका

भी ज़िक्र कर देते हैं, थोड़ी-बहुत छान-बीन भी, और नये लेखक यदि अपनी समस्याओंकी ओरसे उदासीन होते तो कम नये लेखकोंका भी उन्हें कोंचते रहना एक आवश्यक धर्मका पालन करना ही होता : लेकिन नये लेखक जब इस ओर बराबर चिन्तनशील हैं, अपनी सभाओंमें, गोष्ठियोंमें और साथियोंमें इस बारेमें सोचविचार करते रहते हैं कि साहित्यमें आये हुए तत्कथित अवरोधके लिए हम कितने दोषी हैं कितने नहीं—तो अपनी समस्याओंका हल उन्हें स्वयं ही ढूँढ़ने देना अभीष्ट होगा। जिस लेखकके सामने सृजनकी समस्याएँ नहीं हैं वही लेखक पुराना कहा जा सकता है अन्यथा सभी नये हैं—इस अर्थमें कि सभी परिवर्तनशील वास्तविकताको आत्मसात् करनेके लिए शब्दोंके नये अर्थ देखा करते हैं। यदि हम यह मानकर चलें तो इस खोजकी उपादेयता और भी महत्त्व रखने लगती है, और यह न मानकर चलें तो भी वह कम महत्त्व नहीं रखती क्योंकि यह स्पष्ट दीख रहा है कि वास्तविकताकी ओर बुद्धिमानोंके विचार दिन-प्रतिदिन अधिक वैज्ञानिक होते जा रहे हैं अर्थात् हम न केवल वास्तविकताकी शक्ल सुधार रहे हैं, बल्कि उसके तात्कालिक स्वरूपको भी उस अर्थमें समझते जा रहे हैं जिसमें अभी तक हम उसे नहीं जानते थे।

पाँच

रचनाके लिए किसी-न-किसी रूपमें वर्तमानसे पलायन आवश्यक है। कोई-कोई ही इस पलायनको सुरुचिपूर्वक निभा पाते

हैं; अधिकतर लोग अतीतके गौरवमें लौट जानेकी भद्दी ग़लती कर बैठते हैं और यह भूल जाते हैं कि वर्तमानसे मुक्त होनेका प्रयोजन कालातीत होना है, मृत जीवनका भूत बनना नहीं। जिसमें उपभोग नहीं है परन्तु अनुभव है, वेदना नहीं है परन्तु करुणा है और संस्मरण नहीं है परन्तु स्मृति है, ऐसी कालातीत चेतना कलाकारकी दुर्लभ उपलब्धियों हीमें-से एक है, पर है वही जो उसकी सच्ची चेतना है और जिसकी दुर्लभता साहित्यमें उत्कृष्ट कृतियोंके अनुपातमें ही है।

छः

प्रत्येक महान् रचयिताके रास्तेमें लोग आये हैं, ऐसे लोग जो उसे समझ नहीं सके पर जो उसके निकट रहना चाहते रहे—आलोचक इस श्रेणीमें नहीं आते—अपेक्षया वे अधिक निरीह होते हैं। इस श्रेणीके लोगोंको जगह देना रचयिताके लिए बौद्धिक पतन होता है। इनमें लगभग सर्वदा स्त्रियाँ मुख्य रही हैं क्योंकि अपनी शरीरगत और संस्कारगत बुद्धिके कारण वे उस निरपेक्षता अथवा उस परमार्थको नहीं समझ सकीं हैं जो रचयिताके प्रत्येक अनुभव-की शैली होता है पर उसके निकट रहना चाहती रहती हैं क्योंकि वह पुरुष है।

और यदि रचयिता दूसरोंको समझ लेता है—यदि क्यों—निश्चय ही समझ लेता है, तब, तब भी, वह उन्हें जगह देनेके लिए रत्तीभर आतुर नहीं होता। क्योंकि व्यवहारका वह तरीक़ा निष्कण्टक जीवन बितानेवाले सामान्य उपभोक्ताका है, कलाकारका

नहीं। वह सबकी रुचिके अनुसार अपनेको बदलता रहे तो उसका ध्येय खाने-पीने-पहनने मात्रसे अधिक और क्या हो सकेगा।

सात

जैसे-जैसे नयी कविताके प्रतिमान स्पष्ट होते जा रहे हैं कुछ और बातें भी सामने आती जा रही हैं : संश्लिष्ट रूपमें नये मानवकी खोज ही नयी कविताका धर्म है पर अलग-अलग कवियोंमें समग्रता और गहराईकी जितनी अलग-अलग माप आज दिखायी दे रही है उतनी शायद किसी भी आवर्तमें नहीं दिखायी दी। अपने देशकी विशेष सामाजिक परिस्थितियोंके सन्दर्भमें लगभग हर क्षेत्रमें यही हो रहा है—व्यक्तिगत स्तरका नीचे गिरना या दुर्लभ और दुस्साध्य हो जाना और एक सामूहिक काम-चलाऊ स्तरका प्रकट होना। मानवीय अनुभूतिके क्षेत्रमें भी यही हो रहा है—इसीलिए प्रकारान्तरसे साहित्यमें भी। कुछ वर्ष पहले जब नवोदित प्रतिभाके लिए एक तत्कथित सामाजिक चेतनाका अनुशासन एक आकर्षण बनकर आया था, मानवीय अनुभूति कमोबेश एक असामाजिक तत्त्व मान ली या मनवा दी गयी थी। स्पष्ट ही एक ध्येयविशेषका आग्रह उस समय प्रबल था और उस समयके उथले और सतही साहित्यमें जो कुछ भी निश्चित था वह नारोंका तत्त्व था।

आज स्थिति यह नहीं है; एक रोमाण्टिक सामाजिक चेतनाके आकर्षणसे या उससे भी ज़्यादा रोमाण्टिक एक ध्येयके अनुशासन-से आजका कवि अनुप्राणित नहीं होता : उससे भी पहलेके छाया-

वादीके समान एक वायविक विराटके, जो वास्तवमें व्यक्तिके सौन्दर्यबोधका स्फीत रूप था, विराटत्वसे भी वह अनुप्राणित नहीं होता। पिछले दोनों आवर्तोंमें मानव केवल परोक्षसे ही कविका प्राप्य रहा, पर अब कवि मानवीय यथार्थके आमने-सामने है : कहा जा सकता है कि नंगे बदन उसका संस्पर्श करता है और इसने उस-पर एक नयी ज़िम्मेदारी डाल दी है।

यह ज़िम्मेदारी एक व्यापक मानवीय शिवको निरन्तर आत्म-सात् करते रहनेकी है : उस शिवका कोई प्रतिमान नहीं है—वह शाश्वत है—कविको स्वयं एक विशिष्ट मानव बनकर अपने रचनात्मक कार्योंके लिए एक पद्धति और प्रमाण निश्चित करना है। इस नयी ज़िम्मेदारीका सामाजिकतासे कोई विरोध नहीं है—केवल वह सामाजिकताकी आधीन नहीं है। जो इस परिस्थितिको निर्धारित करती है वह सामाजिकतासे कहीं ज़्यादा व्यापक चेतना है—एक अखिल मानवचेतना है। इस दायित्वको पूरा करनेके लिए उसकी व्यापकताके अनुरूप ही बहुत कुछ अपेक्षित है। संक्षेपमें वह 'बहुत कुछ' जीवनमें पूर्णतर योग देना और भाग लेना है : जीवनकी समग्रता और व्यापकतामें, उसके विविध उपकरणों-में, इच्छा करके, परिश्रम करके हिस्सा लेना आज साहित्यकारका मौलिक दायित्व है। यों भाग लेनेवाला व्यक्ति दोहरी रचना करता है—और उसकी रचनापद्धति जीवनके अन्य कर्मियोंसे भिन्न होनेके कारण उसका जीवन भी एक विशिष्ट जीवन होता है।

अब, क्या करके वह जीवन हम जी सकते हैं? इसके तो उतने ही उत्तर होने चाहिए जितने कवि : हिस्सा लेनेको बहरहाल हरएक मुक्त है। उसमें जो सामाजिक बाधाएँ आती हैं

वह भी हरएकके लिए हैं और विना किसी तरहकी रियायत माँगे हुए कविको भी उन्हें औरोंकी तरह झेलना है। पर निश्चय ही औरोंकी तरह केवल हिस्सा ले लेना कविका लक्ष्य नहीं है—वह क्रिया तो केवल एक तैयारी है—उसकी रचनात्मक प्रक्रियाका अलग-अलग अनेक घटनाओंमें सूत्रपात है।

इसके आगे इस सिद्धान्तका कोई साधारणीकरण नहीं हो सकता—वह प्रक्रिया एक वैशिष्ट्य है और इससे आगे इसकी कोई व्याख्या नहीं हो सकती। वह प्रक्रिया कविव्यक्तिमें एक-सी होती हुई भी बार-बार नये स्तरों तक पहुँचती है और नयी रचनाएँ करती हैं। उसके फल अलग-अलग तरहके होते हैं, पर पके बहरहाल होने ही चाहिए। जो एक बार व्यक्तिकी हैसियतसे जीवनमें योग दे चुका है, रचना करते हुए कविकी हैसियतसे वह दुबारा योग देता है : अपनी शक्तिभर, छोटे-छोटे विविध अंशोंमें दुबारा योग देनेमें ही उसकी सार्थकता है और यह सार्थकता भी तब है जब वह कलाके स्तरपर हो। केवल स्थापना, घोषणा या नारेबाज़ीका मौक़ा जीवनमें और जगह बहुत है और वहीं उसका फ़ायदा उठाना भी मना नहीं है।

आठ

चिन्तनकी उपलब्धियाँ जितनी श्रेष्ठ होती हैं क्या उतनी ही असाधारण भी होनी चाहिए ? विडम्बना यह है कि अन्यथा लोग न उनकी श्रेष्ठताको स्वीकार करेंगे न उनके महत्त्वको।

आश्चर्यकी बात है कि एक लम्बा अनुभव, कई दिनों तक सहा हुआ दर्द···

यह नहीं याद वह कैसी सन्ध्या थी, यह नहीं याद वह क्या पहने थी, यह नहीं याद मैंने उससे क्या पूछा या हमने क्या बात की। यही याद है कि वही दिन था पर उसकी तारीख़ नहीं याद। वही दिन था क्योंकि उस दिन इस एक अनुभवका आरम्भ हुआ था; रोज़ मिलना, रोज़ अपने-अपने ढंगसे वही सब कुछ साथ-साथ करना जो हम अलग-अलग भी करते या कर सकते थे; मैंने उसको उसके अपने ढंगसे अपने सत्यको अलग खोजने दिया —पर वह मेरे अनुभवका हेतु थी इससे हमारी मित्रतामें एक विकास भी था।

पर क्यों आजका दिन इस क्रममें विशिष्ट है? एक झटकेके साथ क्यों आजका दिन आया है? और क्या मिला है? मित्रता-के विकासमें समय लगता है पर यह जाननेमें कि यह मित्रता नहीं है या है कितनी कम देर लगती है—

आश्चर्यकी बात है कि एक लम्बा अनुभव, कई दिनों तक सहा हुआ दर्द, कितने कम शब्दोंमें आ जाता है। एक बार तो झुँझलाहट होती है कि बस! कलाकारकी साधना मगर यही है। ऐसी लम्बाइयाँ, कई दिन—अथक अबाध; दिन-दिन प्रतिदिन पिछला वह सब कुछ भविष्यमें मिलता जाये—कालका ऐसा ही भावन मेरे लिए श्रेयस्कर है।

नौ

और जब मैं उस महान् कार्यमें लगा होऊँ जिसे जीना कहते हैं और जो मेरे निकट एक श्रमसाध्य कर्त्तव्य है तब, मेरे पड़ोसियो,

सामनेकी दूकानपर अड्डा देनेवाले निठल्लो और मेरे घर आनेवाले स्नेही मित्रो, मुझे समझनेमें जल्दी मत करना—मैं तब बदला हुआ होऊँगा। जिन व्यावहारिक मानोंको सामने रखकर मेरी भंगिमा या मेरे आतिथ्यका तुम मूल्यांकन करोगे उन्हें मैं कहीं बहुत पीछे छोड़ आया होऊँगा—कुछ क्षणोंके लिए (भगवान् इन्हें घण्टों तक ले जानेकी शक्ति मुझे दे) मैं अपनेको उन आदर्शोंका आनुषंगिक अनुभव कर रहा होऊँगा। जिन्हें मैं तुम सबके साथ मिलकर इस संसारमें प्रतिष्ठित करना चाहता हूँ—मैं अपनेको लगभग पूर्ण अनुभव कर रहा होऊँगा। मैं कहीं और होऊँगा—न केवल आगे, न केवल ऊँचे, बल्कि आगे और ऊँचे-के मिलनेके किसी बिन्दुपर—जहाँ से मैं, निश्चिन्त रहो, लौट आऊँगा। लौट आऊँगा, फिर अनुभव करनेके लिए, फिर इस अपूर्ण असंस्कृत विश्व-सभ्यताके छोटे-छोटे उपहारोंको तुम्हारी तरह चूमने-चाटने और सूँघनेके लिए।

तब तुम मुझे कितने क्षुद्र लग रहे होगे—ऐ मेरे साथ इस समाजमें रहनेवाले, जो इस तथ्यकी चेतना मेरी तरह नहीं रखते। तब मुझे यह इच्छा होती होगी कि मैं तुमसे और तुम्हारी आदतों-से और कहीं दूर चला जाऊँ—सम्भव हो सके तो इतनी ही दूर जहाँसे तुम जो बेचते हो वह ख़रीद सकूँ—क्योंकि तुम खाना भी बेचते हो—पर जहाँ तुम्हारे ख़ोंचेकी आवाज़ न सुन पड़ सकती हो।

पर मैं लौट आऊँगा। यानी मैं उतनी दूर नहीं जाऊँगा, क्योंकि यद्यपि तुम कम पढ़े-लिखे हो और तुम्हारे अपने अनुभव इतने क्षीण हैं कि तुम विना वजह दूसरोंके (मेरे भी) मामलोंमें

दख़ल दिया करते हो, और यद्यपि तुमसे दूर जाकर मैं अपनेको थोड़ी देरके लिए पा जाऊँगा यानी उस अपनेको जैसा मैं हर एकको देखना चाहता हूँ—तथापि तुमसे दूर जाऊँ तो कैसे जाऊँ—मेरा मन कहता है जिनसे या जिससे घृणा करो उसे सुधारो भी, नहीं तो घृणा करनेका तुम्हें क्या अधिकार है। देखा, इस उभयसम्भवमें पड़कर मैं तुमको गालियाँ भी देता हूँ और तुम्हारे लिए ख़ून-पसीना एक भी करता हूँ।

दस

सभी प्रकारका अनिश्चय एक बौद्धिक परिपक्वतासे उद्भूत होता है; जिस बुद्धिमें एक मत दूसरेपर विजयी हो जाये, वह हीन है; उसमें होते रहनेवाला संघर्ष ईमानदार नहीं है। कहा जाता है निश्चय अथवा निर्णय ही हमें कर्मकी ओर प्रेरित करते हैं; यदि यह सच है तो जितने लायक़ जने कर्ममें लगे हैं, सब उस बौद्धिक परिपक्वताके स्तरपर नहीं पहुँचे हैं जिसपर हम अथवा हम जैसे नालायक़ पहुँच चुके हैं। कैसा निश्चय और कैसा निर्णय ? जहाँ सभी कुछ एक महान् जिज्ञासाकी श्रृंखला है, जहाँ कुछ भी तात्कालिक नहीं—न समस्या, न समाधान, वहाँ किसे विश्वसत्य मान लें ? बममारोंके अड्डोंकी तरह कई ठीहे तो हम बना सकते हैं और हर एकसे एक निर्दिष्ट दूरी तक मार भी कर सकते हैं पर समस्त सैन्य-शक्तिको एकत्र करके—नौसेना, वायु-सेना और बेचारे पदातिकोंको भी एक ही मोर्चेपर भिड़ा देना हमें नहीं आता। एक ही मोर्चा ? जिससे रण छिड़ा हुआ है

वह अपने इस जीवनके कहीं बाहर, उससे भिन्न, एकान्त तो नहीं है—उँगलीसे दिखाकर हम बता नहीं सकते हैं कि यह रहा वह, तब संग्रामके बीचोबीच मोर्चेकी लकीर कैसे खींची जा सकती है। हमारा मज़ाक उड़ाना चाहें तो आप हमारे संग्रामकी उपमा उबलती हुई खिचड़ीसे दे सकते हैं जिसमें दाल-चावलके सभी स्तरोंसे भाप निकलने लगी है और हवाके बुलबुले (बन्दूक़की गोलियोंकी भाँति) ऊपरसे नीचे, नीचेसे ऊपर, दायेंसे बायें, बायेंसे दायें और इसी प्रकार सभी सम्भव दिशाओंसे सभी असम्भव दिशाओंको उठ रहे हैं (इसीको कहते हैं 'खुद्बुद्' : यह जीवन बुद्बुद् नहीं है खुद्बुद् है।

···तभी तो कहता हूँ कि कैसा निर्णय और कैसा निश्चय। सभी चिन्तन अनन्त है और यही चिन्तनकी व्यथा है। करवटें बदल-बदलकर जिन्होंने कभी रात काटी है और सुबह उठकर हठात् स्वीकार किया है कि कुछ काम नहीं किया वे इस आलस्यकी वेदनाको जानते हैं। आप भी जान सकते हैं, अगर सुबह देरसे उठनेवाले आलस्यमें और इसमें आप भेद कर सकें।

ग्यारह

हम दुनियामें जितना कष्ट देखते हैं, लोगोंकी व्यथाका जितना अनुभव करते हैं, सब हमारी चेतनामें निमज्जित होता जाता है; अपनी अनुभवशक्तिको हम पुष्ट होता हुआ पाते हैं। पुराने लोग कह गये हैं कि दुःखमें ही ज्ञानका उत्स है। है तो, पर वह ज्ञान कैसा जो कर्मकी प्रेरणा न दे : नहीं, जो कर्म करनेपर बाध्य

न करे। मन भारी हो जाता है, बुद्धि पक जाती है, आँखोंमें एक गहराई आ जाती है; हर काममें गम्भीरता और हर अंग-संचालनमें शालीनता दिखायी देने लगती है···यह क्या किसी सर्वकष्टहर रामबाणका विज्ञापन है—सड़कके किनारे अमृतसरके मशहूर कविराजका दिया हुआ भाषण? या हमारी करुणाकी एक परिणति?

मगर सच तो यह है कि हमारा हाल कुछ ऐसा ही है: हम सब कुछ सह लेते हैं; देख लेते हैं—जान लेते हैं और उस अनुभवको अपने शरीरपर झेल लेते हैं, फिर थक जाते हैं, किसी गरिमासे सारा तनमन सुन्दर हो उठता है, पर वह सब अनुभव करना, देखना, जानना क्यों अपने व्यक्तिमें ही प्रस्फुटित होकर रह जाता है? क्यों वह केवल इतना ही दे जाता है कि हम अपनेको थोड़ा और दृढ़ बना लें—आत्मरक्षाकी कुछ और तरकीबें सीख लें—क्यों नहीं वह हमारे अस्तित्वको विराट् जीवनमें समाहित कर जाता है, क्यों नहीं वह हमें सकल कष्टका प्रतिकार करने योग्य बना जाता?

हम कर्म करते हैं तो क्यों करते हैं, आत्मरक्षाके लिए, या स्त्रीके लिए, या विशालतर जीवनकी समृद्धिके लिए? कहाँ है हमारा मानवीय उद्देश्य? कहाँ है कोई भी उद्देश्य? यदि है तो क्या यही है, यही कि हम बच जायँ—इस युद्धक्षेत्रको ऐसे पार कर जायँ जैसे कोई बिनवटका फिकैत दुश्मनोंकी भीड़में-से रास्ता करके निकल जाय—हद-से-हद कोई दो-एक व्यूह भेद लें ताकि सांसारिक प्राणी मानलें कि हम भी एक चतुर सुजान हैं—केवल बैठे-बैठे कवित्त रचनेवाले घरजमाई नहीं?

बारह

और जब कभी अपने दायित्वकी बात सोचता हूँ तो अपने कृतित्व और अपनी क्षमताकी तुलनामें अनागतका महत्त्व स्पष्ट हो उठता है। जो कुछ करना चाहता हूँ उसके योग्य साहस मुझमें है, ऐसा विश्वास करके चलनेपर भी क्यों वह नहीं कर पाता? उद्योग नहीं होता है, क्यों? यही न? यह मानकर भी कि उद्योग करनेका निश्चय मन हीमें उठता है, और किया हुआ उद्योग अन्ततः बलप्राप्त मनका ही पराक्रम होता है यह मानकर भी, यह भी जानकर कि उन परिस्थितियोंमें जिनसे उद्योगेच्छा जन्मती है परिस्थितिके बाह्य उपकरण भी सम्मिलित हैं, यह समझता हूँ कि न किया हुआ उद्योग केवल न किये हुए कार्यका नकारात्मक महत्त्व रखता है, अधिक नहीं। इसीसे यह बात निकलती है कि न किये हुए उद्योगको करनेकी इच्छा फिर जन्मती है, उस इच्छाको फिर कार्यरूप देनेमें जो चूक रह जाय उसे पूरा करनेके लिए फिर नया पराक्रम प्रयोजनीय हो उठता है। इस प्रकार उद्योग और असन्तोषका यह द्वन्द्वात्मक विकास ही मुझे अपने दायित्व तक ले जायगा; और फिर दायित्व और सामाजिक तथ्यका द्वन्द्व! उसके कारण मेरा दायित्व भी तो तब तक सद्यः सम्पन्न उद्योगके परे जा चुका होगा और उसके लिए फिर नया उद्योग, फिर नया दायित्व, फिर नया उद्योग...

तब समझमें आता है कि दायित्व कभी प्रतिकृत नहीं होता। उस तात्कालिक दायित्वको प्रतिकृत कर चैनकी साँस लेना मेरा ध्येय नहीं होना चाहिए। वह एक निरन्तर उद्योग है जो मेरा

दायित्व है। यही जीवनको उन्नत करेगा; अपनी जिजीविषाको किसी तात्कालिक तुष्टिको समर्पित कर देनेकी भूल नहीं करूँगा।

तेरह

देख रहा हूँ अपनेको बदलते हुए। क्या यह देख सकना ही यथेष्ट उपलब्धि है ? क्या जान सकना कि क्यों और कैसे ही प्रमाण हैं अपनी नियामक शक्तिका ?

तो भी जैसे दुःखका मूल पश्चात्ताप हो तो वह दुःख सच्चा नहीं, और सुखका मूल सौभाग्य हो तो वह सुख रचना नहीं, वैसे ही यह भी कोई कृतित्व नहीं कि हम जानते हैं— कृती होने-का एक लक्षण चाहे हो। 'जानते हैं' यह एक दुष्प्राय उपलब्धि है सही पर द्रष्टा बना जानेकी शक्ति यही नहीं है। यह तो केवल दुनियादार, व्यवहारकुशल और ईमानदार ही बना सकती है। यह चेतना सफल व्यक्तिकी है, श्रेष्ठ पुरुषकी है, साधारण कलावन्तकी भी है, पर श्रेष्ठ स्रष्टाका तो यह केवल एक प्राथमिक अभ्यास है।

चौदह

हम जिस प्रत्युत्पन्न मानवीयताको इष्ट मानते हैं वह इस अन्यायाहत सामाजिक जीवनमें कहीं अवश्य छिपी है, अवश्य है, क्योंकि पीड़ितों और पीड़कों दोनोंमें निश्चय ही ऐसे लोग हैं जो जानते हैं कि हम पीड़ित भी हैं और पीड़क भी। पापाचारकी एक श्रृंखलासे समस्त वर्ग बँधे हुए हैं। बड़ा छोटेको दबाता है, छोटा उससे छोटेको और सबसे छोटा अपनेसे भी छोटेकी सृष्टि

करता है—उसे दबानेके लिए। यह बोध कि इस श्रृंखलाकी एक कड़ी हमें भी बनाया जा रहा है उन्हींको होता है जो मनसे, सचेत बुद्धिसे इस श्रृंखलाकी कोई कड़ी नहीं बनना चाहते। ऐसे ही लोगोंकी बात हम कह रहे थे—वे ही उस प्रत्युत्पन्न मानवीयता-की भूमि हैं—एकबार जिसमें अंकुर फूट चुकनेपर जो कृतकर्म हो जाती है और जिसका इससे अधिक प्रतिदान और कुछ नहीं हो सकता।

पन्द्रह

मैं किसीका जवाब देने नहीं खड़ा हुआ हूँ। जो किसीने कहा है उसका खण्डन करना मेरे लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है यह देखना कि यदि मैं खण्डन करता हूँ तो अन्तमें क्या विचार किसीके लिए बच रहता है। बड़े-से-बड़ा राजनीतिज्ञ विद्वान् और धर्मात्मा भी मेरी आलोचनासे परे नहीं है पर उसका स्थान लेनेका मेरा प्रयोजन नहीं। मैं अपनी तरहसे, एक जागरूक नागरिककी तरहसे उस चेतनामें योग देता हूँ जो किसीने प्रकाशित की है और उसे अपनी शक्तिभर कोशिशसे, समग्र, सबके योग्य, सबके लिए, और सबकी बनाता हूँ।

सोलह

चौराहेपर दो ओर यातायात ऐसे रुका हुआ था जैसे दो सेनाएँ आमने-सामने आकर ठिठक गयी हों—यद्यपि जैसे ही

ट्रैफ़िक कांस्टेबिल हाथ देगा, दोनों जत्थे एक-दूसरेकी बग़लसे चुप-चाप निकल जायँगे। पैदल यात्री इस नाकेके खुलनेकी प्रतीक्षा कर रहे थे और इधर-उधर छिटके हुए-से घातमें खड़े-से लगते थे। उनमेंसे एककी गोदमें एक छोटा-सा बच्चा था।

'ए छोटे बच्चे' मैंने कहा, 'तुम्हें दुनियाके दर्दका क्या पता: तुम्हें यह उथल-पुथल सिर्फ़ एक भीड़ दिखायी देती होगी—यह जो तुम टुकुर-टुकुर ताक रहे हो और रह-रहकर झटकेसे गरदन घुमाकर इधरसे-उधर देखने लगते हो—कभी-कभी गोदसे कूदनेकी कोशिश भी करते हो—यह सब चेष्टा आसान है, क्योंकि तुम बापकी गोदमें हो। मैं यह सोचकर गर्व नहीं कर रहा हूँ कि चूँकि मैं इस परेशान धरतीपर खड़ा हूँ, मैं तुमसे अधिक बहादुर हूँ। वह तो मैं हूँ ही क्योंकि जैसे-जैसे आदमी बड़ा होता जाता है बहादुर होता जाता है। मुझे तो केवल यह कौतूहल हो रहा है कि तुम्हें यह सब आना-जाना, रुकना, फिर चलना, शोर-गुल, रोशनी, धक्कमधक्का कैसा लग रहा होगा। 'ए छोटे बच्चे' मैंने कहा, 'मैं जानता हूँ कि इनमेंसे बहुतसे लोग बहुत थके होंगे और गुलगपाड़ेसे वे सुन्न हो गये होंगे। मैं कुछ-कुछ यह भी जानता हूँ कि इन सबके जीवनमें एक विशृंखल व्यथा होगी—अनेक विकृतियोंकी कुरूपता और अनेक असफलताओंकी कड़ुआहट—पर तुम, जो कि यह सब नहीं समझते—केवल शरीरों और गाड़ियोंका आना-जाना देख सकते हो—तुम, इस विकल व्यापारका केवल बाह्य देख रहे होगे जो कि तत्त्वहीन, अर्थहीन संगठन मात्र है, मात्र रूपाकार! और क्या

वह तुम्हारे अन्दर एक विकलता नहीं पैदा करता होगा क्योंकि वह समझमें न आता होगा ?

इसपर ट्रैफ़िक कांस्टेबिलने हाथ दिया और चुपचाप इधरकी भीड़ उधर हो गयी जैसे ताशकी गड्डी शफ़ल की जाती है। आदमी बच्चेको गोदमें लिये-लिये एक बार दाँयें-बाँयें देखकर झटसे सड़कके पार हो गया और वहाँ खड़ा हो गया।

'ऐ छोटे बच्चे' मैंने कहा, 'इससे क्या फ़र्क पड़ता है कि तुम गोदमें बैठे-बैठे इस पारसे उस पार पहुँच गये और भीड़ शान्ति-पूर्वक इधर चली आयी। चौराहा तो वहींका वहीं है और वास्तवमें यह भीड़-भरा चौराहा ही है जिसके कारण तुम सड़कके पार जा सके और वह भीड़ छूटकर इससे मिल सकी।'

सत्रह

मंटा प्यारी लड़की है। उसका लजाना कितना मनहर है। बढ़ती हुई लड़कीका शरमाना एक सबसे अलग अनुभव है। वह निष्प्रयोजन निष्कपट झिझकसे सिर झुका लेना, फिर उत्सुकता आँखोंमें भरकर उठाना, ग़ौरसे सुनना, ग़ौरसे देखना—पुरुषके बल-वीर्य, धनसम्पत्तिकी थाह लेनेके लिए जैसे भरी-पूरी औरत उसे घूरती है वैसे नहीं, केवल जाननेकी सच्ची विवशतासे ध्यान देकर देखना—वह दृष्टि किसी स्त्री-सम्पर्कजर्जर व्यक्तिमें भी आनन्द जगा जायगी।

उसका रंग अंगूरका-सा है। (मोतीके-से रंगका आकर्षण भी मैं जानता हूँ पर वह प्रौढ़ा स्त्रियोंमें होता है—होना चाहिए)

उसके छोटेसे चेहरेपर जो एक स्वच्छ-सा कुछ झलकता रहता है वह स्वास्थ्य अच्छा होनेकी निशानी है और यह उसे कितना सन्तुलन देनेवाला गुण है कि उसका स्वास्थ्य अच्छा है।

वह छरहरी है। उसे दो चोटियाँ करना चाहिए। उसकी पिण्डलियाँ कुछ दुबली अधिक हैं—पर अच्छा है। फ्राक पहननेपर अच्छी लगती है। फ्राक ही पहनती है। कल उसने मेंहदी रचायी थी—मारे शौक़के—हथेलियों और पैरोंमें महीन धारियाँ रचाकर, एक लम्बी-सी चोटी करके किवाड़से झूलकर एक पैर चौखटपर रक्खे-रक्खे उसने पूछा, आप कब आयँगे?

वह सुन्दर है, और मुझसे यह व्यक्तिगत प्रश्न पूछते हुए वह मेरे लिए और सुन्दर थी, पर मैं चाहता हूँ कि वह वही दृष्टि बनाये रख सके—बड़ी-बड़ी लेकिन काली नहीं, मदभरी-रसीली-कँटीली नहीं केवल बड़ी-बड़ी आँखोंसे ऐसे ही देख सके—युवती का आत्मबोध होने, अपने अंगोंका ज्ञान होनेपर भी उसकी लज्जाका कारण यही कुछ हुआ करे तो वह कितनी सुन्दर स्त्री हो जायगी।

अट्ठारह

वह बार-बार खानेको माँगता है। इस रोगमें यही होता है: भूख बहुत लगती है, झूठी भूख, और यकृत बढ़ते-बढ़ते अन्तमें रोगी मर जाता है। इस तरह भूखसे मरनेवालोंकी एक दूसरी कोटि भी है जो न खाकर नहीं, खाकर मरते हैं।

उसमें असाधारण ग्रहणशक्ति है, कोई शब्द करो उसका साम्य उसकी स्मृतिमें तुरन्त निश्चित हो जाता है—या सम्बन्ध। रेलने सीटी दी या बन्दर बोला कि महीनों पहलेकी कोई घटना उसे फ़ौरन याद हो आयी-ज़रासा सूत्र मिल भर जाय और जितनी जल्दी-जल्दी वह शब्द, वाक्यांश और फिर क्रियासहित पूरे वाक्य बोलना सीख रहा है वह आश्चर्यजनक है। वह सचमुच मेधावी है।

पतली-पतली टाँगे—हड्डियाँ। बड़ा-सा पेट—तना हुआ—विस्फीत यकृतका निर्विवाद लक्षण। गड्ढोंमें घुसी हुई अकालवयस्क आँखें और बहुत-सा बोलना, हाथ-पैर डुलाना, खानेको माँगना—बार-बार, सब मिलकर वह ऐसा कुछ लगता है जिसे अकारण बहुत-सी जिगीषाने आकर भर दिया हो, जिसका चलना-फिरना, बोलना सब अपनी सामर्थ्यसे बहुत ऊपर, बहुत अधिक हो रहा हो। फूट-फूटकर विकीरित होनेवाली उसकी यह शक्ति किसी दिन अचानक चुक तो नहीं जायगी? तड़पड़-तड़पड़ दौड़ता हुआ घोड़ा ढेर तो नहीं हो जायगा? या वह खींच ले जायगा—इस अतिशयता-को अपनी अनिवार्य ज़िन्दगीमें बाँटता हुआ और उसकी अनि-वार्यताको अपने अनुकूल सुधारता हुआ: मुझे चिन्ता है।

उन्नीस

दो जड़ाते हुए अधपेट बाबू छह घण्टे तक पचास बाबुओंकी भीड़का टिकट, पोस्टकार्ड, मनीआर्डर, रजिस्ट्री, बैंक, रेडियो-लाइसेंस

वग़ैरह सब काम निपटाते रहें--एकरसता और दुर्बल शरीरका सामंजस्य कितना भयंकर हो सकता है। इससे भी कष्टकर है शायद पटरेके इस पार खड़े लोगोंका समझना कि यह सब एक मज़ेदार खेल है कि हम जल्दीमें हैं, पहले हमींको रजिस्ट्री करनी है और उधर एक आदमी कर देगा : फट्से मोहर लगा देगा और हम ख़ुशी-ख़ुशी चले जायँगे।

बीस

बहुत-सी अजब बातोंमें एक यह भी है कि जब कभी कोई मिस्त्री बुलाया जाता है और वह पंखा, रेडियो या घड़ी या फ़ाउण्टेनपेन सुधारने लगता है तो बराबर यह लगता रहता है कि पेंच ठीक नहीं कस रहा है, यह तार ढीला छोड़ रहा है--इसमें साफ़ रन्दा नहीं हो रहा है और इससे अच्छा मैं ही कर लेता।

इक्कीस

एक ख़ामख़ाहकी शुभेच्छा इन बाबुओंको होती है--दूसरे बाबुओंके लिए। सबको एक व्यवस्थामें पिसता हुआ वह मान लेते हैं और मान लेते हैं कि ये तो है ही जो है। उस पर टीका-टिप्पणी भी करते हैं--चलो जी गुज़ारा करना है; हें हें हें, हम तो आपके ही सेवक हैं--जैसे घमाती हुई स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों-की प्रशंसा करें।

बाईस

वह क्या शेर है जिसका कि दूसरा मिसरा यह है :

'मगर अपने-अपने मुक़ामपर कभी हम नहीं कभी तुम नहीं'

और जिसको हमारे एक मित्र यों पढ़ते हैं—

'मगर अपनी-अपनी दुकानपर कभी हम नहीं कभी तुम नहीं,

यह तो अक्सर होता है कि बैठे-बिठाये कोई चीज़ कहीं खो जाती है और हम ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मर जाते हैं पर उस वक़्त उसका पता नहीं लगता। यह भी होता है कि उस वक़्त क्या किसी भी वक़्त उसका कहीं कोई निशान भी न मिले, मगर अक्सरसे ज़्यादा यह होता है कि उस वक़्त नहीं, हाँ उस वक़्त उसका पता अचानक चल जाता है जब हमको उसकी बिलकुल ज़रूरत नहीं होती।

और हमारे साथ एक तीसरी चीज़ भी होती है। कोई चीज़ खो जाती है। फिर हम उसको बहुत स्वाभाविक ढंगसे खोजना शुरू करते हैं और उन सब जगहोंको खँखोड़ डालते हैं जहाँ वह कभी रक्खी ही नहीं गयी। अन्तमें वह नहीं मिलती है। तब हम इस आशामें कि कभी तो मिल जायगी, जो काम उसके बिना रुक गया है उसे भी स्थगित कर देते हैं। उदाहरण देकर समझाते हैं।

हमने दूर किसी प्रान्तके एक सम्पादकको पोस्टकार्ड लिखा कि पाँच महीनेसे आप मेरी अमुक रचना से रहे हैं, उसका कुछ फल मुझे बतलायेंगे या नहीं, और जब लिख चुके तो देखा कि यह अत्यावश्यक पत्र हमने एक लोकल-डेलिवरी पोस्टकार्डपर लिख

दिया है। पोस्टकार्डको स्थगित वाले काग़ज़ोंके साथ रख दिया और दूसरे दिन अपनी डाक लेने गये तो एक पैसेका टिकट भी लेते आये कि लिखा हुआ पत्र रवाना कर देंगे।

अब पोस्टकार्ड नहीं मिल रहा है। इस तरहके बहुतसे स्वगत, 'यहीं कहीं रख दिया था, आज सुबह तो था, आख़िर जा कहाँ सकता है' बोलकर हमने प्रकटमें टिकटको और स्टेशनरी के साथ रख दिया और निर्विकार चित्तसे अन्य ऐहिक कर्मोंमें प्रवृत्त हुए। आज सामुद्रिककी एक किताबमें वह पोस्टकार्ड मिल गया है। कहना न होगा कि अब हम अपना एक पैसेवाला टिकट खोज रहे हैं और वह नहीं मिल रहा है।

हाँ, शेर यों है

'वही ज़िन्दगी, वही रास्ते, वही मरहले, वही मंज़िलें
मगर अपने-अपने मुक़ाम पर कभी हम नहीं कभी तुम नहीं।'

और यह प्रभुकी अनुकम्पा है कि हमें इस समय दोनों मिसरों सहित याद आ गया है, नहीं तो यह तब याद आता जब इसके कहनेका कोई मौक़ा न होता और हम चार जनोंकी बात-चीतमें सिर्फ़ इसलिए टाँग अड़ाते कि कोई अवसर पाकर वह शेर पढ़ दें जो हमें बार-बार याद आ रहा है।

तेईस

स्त्रियोंके हाथमें पुस्तकका सबसे अच्छा इस्तेमाल क्या हो सकता है ?

'—लेकिन जो चाहती है वह लड़की दुनियामें क्या नहीं कर सकती—थुलथुल कमर भी पतली कर ले सकती है और यदि आप पाँच मिनट रोज़ यह अभ्यास करें तो कोई वजह नहीं कि समय आनेपर आप भी कनकछरी न हो जायँ।

मामूली वज़नकी एक किताब लीजिए और कुर्सीपरसे गद्दी हटाकर बैठ जाइए, पैर अलग-अलग कर लीजिए, पेट खला लीजिए।

अब साँस अन्दर खींचिए और पीठ ऐसी सीधी रखिए जैसे झंडेका डंडा होता है, दायीं ओर झुकिए और जितनी दूर हाथ ले जा सकती हों उतनी दूर किताबको रख दीजिए। फिर सीधी हो जाइए। अब उसी तरह झुकिए और किताबको उठाइए।

यह व्यायाम एक बार दाहिनी तरफ़ और एक बार बायीं तरफ़ करके कमसे कम पाँच मिनट रोज़ करिए।

आपके लिए, याद रखिए सिर्फ़ आपके लिए यह पाँच घण्टे रोज़ किताब पढ़नेके बराबर है।'

चौबीस

अन्य लेखकोंकी रचनाएँ आजकल पहलेसे अधिक पढ़नेको मिलती हैं। ये लोग कैसे इतने लम्बे-लम्बे लेख, कविताएँ और कहानियाँ लिख डालते हैं ? कब ये सोचते हैं कब लिखते हैं ?—या ऐसा है कि सोचने बैठते हैं तो लिखते चले जाते हैं या लिखने बैठते हैं तो सोचते ही रह जाते हैं।

लेखकके चारों ओर

आज इतवार नहीं है और बाज़ार खुले हुए हैं वरना मैं ख़ाली सड़कोंपर पता पूछते हुए अजनबीकी तरह घूम रहा होता, मेरे एक हाथमें एक रंगीन जिल्दवाली किताब होती जिसे मैं जैसे कहीं बैठकर पढ़नेकी फ़िराकमें होऊँ, और दूसरेमें कुछ टूटे पैसे, और यह पैसे और मेरे हाथकी मुट्ठी, मेरी जेबके अन्दर होती। मगर आज शनिवार है और सड़कोंपर लोगोंकी भीड़ है जैसे आज ही तनख़ाह बँटी हो। लोग ख़ुश दिखायी दे रहे हैं। पता नहीं क्या वजह है।

सवाल यह नहीं है कि लोग ख़ुश क्यों हैं। सवाल तो यह है कि लोग ख़ुश क्यों न हों। संगीत है, फ़ोटोग्राफ़ी है, बाज़ारू नृत्यकला है, इन सब चीज़ोंसे यदि मनुष्य अपने अभावोंको उहँ करके भुला नहीं सका तो हमारी सभ्यताका परिणाम क्या निकला। विज्ञानने हमारा जीवन सरल बनाया है, कुछ लोगोंका जीवन हमने कठिन बना रक्खा है, परन्तु हमने किसीके जीवनको विज्ञानके रहते हुए नीरस नहीं छोड़ा है। ख़ुश होनेका एक कारण और भी हो सकता है : अगर आपकी दाहिनी हथेलीमें पक्का तिल हो, जो मुट्ठी बन्द करनेपर हाथमें आ जाता हो, तो आपको विना कारण ख़ुश ख़ुश घूमनेका सारा अधिकार प्राप्त है। यह बात निर्विवाद समझिए कि दाहिने हाथमें तिल होनेसे अपरम्पार

धनकी प्राप्ति होती है, देखिए न, शास्त्रमें लिखा है···अस्ति गोदावरीतीरे शाल्मलीवृक्ष एको।

आज किसी चीज़में मन नहीं लग रहा है। कुछ मनोबलकी कमी है कुछ मौसम ख़राब है। आज सुबहसे देख रहा हूँ, गुन-गुनी धूपका एक रेला मकानों, पेड़ों और चहारदीवारियोंको जैसे रोशनीमें उछालता हुआ आया और सड़कके मोड़पर एक नीमके पेड़को धक्का देकर एक चारख़ानेदार परछाईं गिराता हुआ चला गया। तबसे सारा दिन चलते-फिरते देखता रहा हूँ, दोपहर आयी है और पत्तोंसे ख़ामख़ाह घने लगनेवाले भारी भरकम पेड़ोंके नीचे सारी ठंडक और छाँह बटुरकर चली गयी है और धूपके चश्मेसे मैंने उसपर लालचकी निगाह डाली है। अब शाम-को अचानक आयी हुई यादकी तरह आसमानमें चाँद हल्के रंगसे चौंक उठा है। रात हो गयी है और समय घबराये हुए वक्ताकी तरह हकलाती हुई चालसे घिसट रहा हैं। जैसे वह भूल गया हो कि अब क्या होगा, या जैसे हम भूल गये हों कि अब क्या करना चाहिए।

सच बात तो यह है कि हम भूल नहीं गये, बल्कि हमें सोचनेका वक्त़ ही नहीं मिला, नहीं शायद सोचा तो था···मगर देखिए न, हरएक आदमीकी मजबूरियाँ होती हैं।

समय रुक गया है यह कहना तो निहायत निराशावादी पतनोन्मुख बात कहना होगा। रुका नहीं, हाँ समय थोड़ी उल-झनमें पड़ गया है। असमंजस यह है कि क्या हो, क्या करें और कैसे वह अपने आप हो जाय जो करनेकी तकलीफ़ हम

उठाना नहीं चाहते। मैं यहाँसे ख़ूब अनुमान लगाकर समझ सकता हूँ कि आप मनमें कह रहे हैं 'आलसी हो और क्या।' बड़े खेदकी बात है कि हमारी शान्तिप्रियता और शुभकामनाको आप आलस बताते हैं।

हमने जलती हुई दियासलाई असावधानीसे फूलोंकी क्यारीमें फेंक दी है। यानी आपकी सिगरेट जलायी और दियासलाई दाँये हाथ फेंक दी। किताब माँगकर लाये कि पढ़ेंगे और उस पर शामको चायदानी रख दी कि मेज़ न खराब हो जाय। रामसरन चाट वालेने ५ आने पैसे ज़्यादा दे दिये और हम बिना गिने और अधिक ज़रूरी कामसे चल दिये। यह कोई आलसकी वजहसे हमने नहीं किया।

हाँ ठीक है, या ठीक हो सकता है कि तुम आलसी नहीं हो मगर तय कर लो कि क्यों तुम ख़ुश नहीं हो, या क्यों तुम लम्बी कल्पनाके मज़े नहीं ले सकते, या क्यों तुम्हारे हाथका तिल तुम्हें जायदाद और ज़मीनका मालिक बना देगा। यही वक़्त है जब तुम तय कर सकते हो। वरना पीछे रह जाओगे और दुनिया तुम्हारी बगलसे सूँ करके निकल जायगी उस भरी हुई बसकी तरह जो अपने स्टैण्डपर भी नहीं रुकती है।

रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु सिद्धार्थके ज़मानेमें भी थी, उससे भी बहुत पहले, कौटिल्यके समयमें सरकारी अफ़सर ग़बन भी कर लेते थे। कौटिल्य लिखता है कि जैसे जलनिवासिनी मछली जलमें रहकर कितना जल पीती है यह पता लगाना मुश्किल है, वैसे ही सरकारी कार्यमें नियुक्त पुरुष कितना पैसा मार देता है यह बताना भी बड़ा मुश्किल है।

तबसे अब दो बातोंमें फ़र्क है। एक तो यह कि अब किये हुए ग़बनका पता कभी न कभी लग ही जाता है और दूसरी यह कि रोग और मृत्युसे डरकर हमें सिद्धार्थकी तरह यशोधरा-त्याग करनेकी ज़रूरत नहीं है।

कम तनख़्वाहें पानेवाले लोगोंके बच्चे दुबले-पतले, बीमार, खाँसते हुए और कम सहजबुद्धि और प्रतिभावाले होते हैं। उनके घरमें गृहस्थीका न सम्हाला जा सकनेवाला अम्बार, पैबन्द लगी चद्दरकी तरह फैला रहता है। छोटी छोटी कोठरियोंमें दम घुटता है मगर उसीमें नाश्ता, भोजन, ख़ातिरदारी, शयन, आराम और तीमारदारी तथा अध्ययन होता है। नहीं शानशौकतसे रह सकते तो क्या हुआ, सफ़ाईपसंद और शौक़ीन तबीयत तो हैं। कोई तक़लीफ़की शिकायत नहीं है, भगवान्ने जो दिया है काफ़ी है। बहाने और धोखेके रूमालसे यह मध्यवर्ग अपना मुँह बार-बार पोंछकर साफ़ करता रहता है। सिद्धार्थकी तरह भाग निकलना उसके लिए अचिन्तनीय है और ग़बन करनेसे पकड़ा जायगा। सो नहीं होगा।

तब क्या होगा। लेखक क्या करेगा, बाबू चाहे कुछ करे चाहे न करे। हालाँकि करना उसको भी होगा। क्या लेखक यह करेगा कि पड़ोसवाले माधो बाबूकी फुलवारीमें चला जायगा और आध घण्टे अपनी नफ़ीस चप्पलकी तरफ़ निहारता हुआ मीठी-मीठी घासपर टहलेगा और एक गुलाबकी कली सूँघता रहेगा। या लेखक यह करेगा मि भंग पीकर जैसे नदीके सेवारमें अपना दिमाग़ अरझाकर डाल देगा और औंधे मुँह पड़ा रहेगा। मगर नहीं, यह दोनों बातें तो बराबर हैं—चहलक़दमी करना और गोली चढ़ाना।

लेखकको कुछ और करना चाहिए। आइए, ज़रा लेखककी मदद कीजिए पता लगानेमें कि उसे क्या करना होगा।

आज मुझे अपने चारों ओर किसी बहुत आवश्यक वस्तुकी कमी दिखायी पड़ रही है। आत्म-विश्वास, प्रेम, दया, सहानुभूति, निश्चय, श्रद्धा, इत्यादि भाववाचक वस्तुओंमेंसे वह वस्तु नहीं है। अतीतके प्रति श्रद्धा और वर्त्तमानके प्रति निष्ठा हो, न हो, उस आवश्यक वस्तुके अभावमें पूर्ति नहीं होती। वह तो जिन कारणों-से अनुपस्थित है, उनको दूर किये बिना नहीं मिल सकती। वह वस्तु है प्राणवायु, आक्सीजन।

आक्सीजनकी कमी है तो मैदानमें टहलिए। वनस्पतिसे दिनभर आक्सीजन वायुका प्रस्फुटन होता रहता है। मगर यह वह आक्सीजन वायु नहीं है जो बनारसीबाग़के मैदानमें बहा करती है। यह ठीक है कि इसे पानेके लिए मैदानमें आना पड़ता है। वह मैदान लड़ाईका मैदान है।

आटा, दाल, चावल, तरकारी और शक्करका दाम कल जो था, वह आज नहीं है। यानी बढ़ गया है। कुर्ते, कमीज़ें, कोट, पतलून, कुहनियोंपर या कंधेसे एक एक करके फट चुके हैं। दूध, मक्खन, मलाई, तेल, साबुन, जूते और डबलरोटीमें जितना ख़र्च होता जाता है उसके बाद, बीमेके प्रीमियम, स्कूलकी फ़ीस और मकानका किराया देनेको बच नहीं रहता। मगर हम अपने सौजन्य, दया, क्षमा, शील, स्नेहमें एक रत्ती कम नहीं हुए हैं। आपसे जब मिलेंगे, तपाकसे नमस्ते करेंगे और पूछेंगे, "मज़ेमें तो हैं ?" और आप जवाब दें इसके पहले ही कह देंगे, "जी आपकी दयासे सब चैनचान है। नमस्ते।"

तुम क्या चाहते हो। क्या तुम चाहते हो कि हम छोटे-छोटे नौकर-चाकरोंकी तरह मालिकसे कहने जायँ कि हमारी तनख़्वाह बढ़ाइए। तुम्हें क्या मालूम कि संसारका एक नियम यह है कि हर चीज़की हद होती है। एक समय आयगा जब हमारे कष्टोंकी उसे ख़ुद सुध आयेगी। आख़िर वह भी तो इंसान है और उसके भी दिल है। इसके अलावा जीविकाका प्रश्न यों ही नहीं हल हुआ करता, माँगनेसे कुछ नहीं होता। कुछ करना पड़ता है। तुम अभी बच्चे हो और दुनिया नहीं समझते हो।

यह दूसरी आवाज़ किसकी है। यह कोई रोज़गारसे लगा हुआ बालबच्चेदार बुज़ुर्ग मालूम होता है जिसकी तकलीफ़ें दूर करनेके लिए उसका लड़का ऊँची नौकरीके चक्करमें है। इससे सावधान रहो। यह प्रचारकी आवाज़ है। आलस और बेरोज़गारी का यह प्रचार करती है।

अमरीकामें हाइड्रोजन बम बन रहा है। शायद रूसमें भी बन रहा है या बन चुका है। अगर हाइड्रोजन बमसे उत्पन्न शक्तिको एक विशेष तरीक़ेसे इस्तेमाल किया जाय, हालाँकि वह तरीक़ा अभी ईजाद नहीं हुआ है, तो सारी दुनियाके, टोकियोसे लेकर मैंचेस्टर तकके कारख़ाने तीन साल तक ख़ुदबख़ुद चलते रहें और हमारे लिए खिलौने, बाइसिकलें और कमीज़ें तैयार करते रहें। मगर कुछ मुनाफ़ाख़ोर देश चाहते हैं कि लड़ाई हो और हाइड्रोजन बमकी तिजारतमें हम मालामाल हो जायें।

इसका क्या मतलब है ? क्या मनुष्यके स्वभावमें युद्ध करना आधारभूत तत्त्व नहीं है ? बर्बरता तो हमारे रक्तमें है और चिरकालसे दबी रहनेके कारण कभी-कभी फूट निकलती है। युद्धकी

इच्छा कौन करता है। सभी शान्ति चाहते हैं। यहाँ तक कि सेनाओंके चीफ़कमाण्डरगण और रक्षा-मन्त्रीगण भी शान्ति चाहते हैं।

यह दूसरी आवाज़ किसकी है। ज़रूर यह किसी तिलकछापा-रामनामी-गोमुखी-सुशोभित, जपतप-ज्ञान-ध्यान-त्यागसे परिष्कृत अन्तःकरणवाले दूकानदारकी आवाज़ है, जो ख़ुद कभी लड़ाई झगड़ेमें नहीं पड़ता, मगर जहाँ प्रकृति और अवश्यम्भाविताका सवाल उठ आता है वहाँ आख़िर वह कर ही क्या सकता है।

इससे सावधान रहो। यह प्रचारकी आवाज़ है। यह ग़ुलामी और ग़रीबीके प्रचारकी आवाज़ है।

जबसे मैंने लिखना शुरू किया था, तबसे तो नहीं, हाँ उसके कुछ दिन बादसे यह सवाल कई बार मेरे सामने आया है कि मैं क्यों लिखता हूँ और उसके पहले कि यह सवाल सुलझ सके यह सवाल उठ खड़ा हुआ है कि मैं क्यों लिखूँ। आज यह सवाल हल हो गया है। पहले मैं नहीं जानता था कि मुझे क्या करना है। पहले मैं आवारा घूमा करता था, वक़्तसे खाना नहीं खाता था और दूसरोंका समय बरबाद करता था। धूप और धूपसे जगमगाते हुए रंग मुझे सिनेमाके दृश्यकी तरह अच्छे लगा करते थे। रातको सड़कोंपर फ़्लूरोसेण्ट लैम्पका रुई जैसा प्रकाश भी मुझे बड़ा प्यारा लगता था। मगर दिल और दिमाग़में अँधेरा था। कैसा लगता था, बताऊँ? बस यह मालूम पड़ता था कि दिल बैठा जा रहा है, और दिमाग़ बैठ चुका है।

मगर अब छतपर खड़े होकर नाकके स्वरसे, 'सखि आयी साँझ सुहागभरी' गानेकी ज़रूरत नहीं रही है। अब साहित्यमें

ऐसे पुस्तकालयों और आरामगाहोंके अँकुए फूटे हैं जिनकी नींव पत्थरकी है। मैं समझता हूँ कि वे उगेंगे और पूरी सुघर इमारतका रूप ग्रहण करेंगे, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मुझे अपनी कविताओं और नाटकोंमें क्या कहना है। ग़ुलामी और ग़रीबी, युद्ध और बेकारीके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए इसे जाननेमें क्या देर लगती है? नहीं। मगर उनसे पूछना मत, नहीं तो वे कहेंगे "वैसा ही व्यवहार कीजिए जैसा एक राजा दूसरे राजाके साथ करता है।"

ग़रीबी और बेकारी, युद्ध और ग़ुलामी लेखकके दुश्मन हैं और मनुष्यके जानी दुश्मन हैं। उनसे ऐसा ही व्यवहार कीजिए जैसा दुश्मन दुश्मनके साथ करता है।

मौन

"स्थगित कर दूँ क्या अभी अभिव्यक्तिका आग्रह, न बोलूँ, चुप रहूँ क्या ?"

क्यों ? कहिए, न बोलूँ, चुप रहूँ क्या ? किन्तु आप कहें कि 'धन्यवाद, चुप रहिए' तो उससे भी क्या ? आपका सन्देश, नहीं आदेश, मुझ तक पहुँच तो नहीं सकता। और आप सुनना चाहें तो मैं जान भी नहीं सकता कि हाँ आप सुन रहे हैं। इसीसे मुझे बोलनेहीमें सन्तोष है···यह जानते हुए भी कि आप मौन रह कर सुनेंगे तभी मेरा बोलना सार्थक होगा···और यह भी जानते हुए कि आप जब चाहें तब सुई घुमाकर मेरी आवाज़को सूने आकाशमें मँडरानेके लिए छोड़ दे सकते हैं। मगर उससे मेरा बोलना बन्द तो नहीं होता क्योंकि उसमें यह सम्भावना रहती ही है कि कहीं कोई और मुझे सुन रहा होगा···इस भटकती हुई आवाज़को कहीं तो आश्रय मिला होगा।

यों भी बोलनेमें एक सुख है, कोई सुने चाहे न सुने। सुनने-वालेके लिए यही बात उलट कर नहीं कही जा सकती; सुननेमें एक सुख है, मगर यह तो नहीं कि वह सुख रहेगा ही कोई बोले चाहे न बोले। इसीसे बोलता हूँ अर्थात् कहता हूँ कि बोलना सुननेसे कुछ बड़ा है···जैसे किसी कविकी वह पंक्ति है··· "बनाना तोड़नेसे कुछ बड़ा है।"

कभी आपने सोचा है जो लोग अधिक बात करते हैं उनसे

हम कतराने क्यों लगते हैं ? कहा जाता है अमुक बड़ा बक्की है, जब देखो तब बक बक बक बक। उसका मतलब यही होता है कि अमुक जो कुछ बोलता है, हम सुनना नहीं चाहते। निश्चय ही, यह सुननेवालेकी असमर्थता है जिसका लांछन बोलनेवालेपर लगाया जाता है, नहीं तो कभी आपने सुना है कि कोई बोलते-बोलते थक गया हो और आप सुननेके लिए व्यग्र रहे हों कि "भाई और बोलो।" होता यही है कि सुननेवाला पहले थकता है और बोलनेवाला ? बादमें भी नहीं, जनाब, वह कभी नहीं थकता। बोलनेवालेको ही कहना पड़ता है, "सुन रहे हैं आप ?" या "सुनिए तो, फिर क्या हुआ" और सुननेवाला बोलनेवालेसे इतना हीन होता है कि वह यह नहीं कह पाता, "बोलिए"। उसके मुँहसे निकलता है, "सुनाइए साहब।"

यह कोई नयी बात नहीं, शताब्दियोंसे लोग सुननेके उत्सुक चले आ रहे हैं। वेदकालीन पुरुष प्रार्थना करता है, शृणवाम शरदः शतं। वेदान्ती, नादब्रह्मको सुननेके लिए आँख मीच कर, कान भी बन्द कर मौन प्रतीक्षामें आसनस्थ है। और इस दिशामें सबसे अधिक उपलब्धि उन कवियोंको हुई है जो इधर सृष्टिका निखिल मौन संगीत सुनते रहे, प्रेमिकाका मूक स्वरोंमें अनुरोध भी। और आज तो हमें कोई सौ बातें सुनाता है, कोई सुना-सुना कर कुछ कहता है और हमारी कहीं सुनवाई नहीं होती। फिर भी हम अनुरोध करते हैं "बोलो प्रभु, कब सुनोगे।" यह अन्याय आप देख रहे हैं ? अर्थात् सुन रहे हैं ? कि प्रभु ही बतायेंगे कि हम कब बोलें। यह इसीलिए कि हम सुननेके आदी हो गये हैं और सुनना हीन है, बोलना श्रेष्ठ।

फिर भी कभी-कभी मनमें इतना कुछ कहनेके लिए एकत्र हो जाता है कि बस एक विकल मौन मनपर छा जाता है; कुछ कहा नहीं जाता। सुना है वाल्मीकि भी कभी मौन थे, व्यथाके तीखे शरोंसे तिलमिला कर अचानक उनका कण्ठ फूटा। हमारे मनकी व्यथा वैसी तो नहीं। यह तो वर्षोंकी घनीभूत पीड़ा है जिसे कह डालें तो हल्के हो जायँ मगर यह जानते हैं कि कह डालकर हल्के हो जाना व्यथाका उचित प्रतिकार नहीं। इससे उसे मन-ही-मन समझते हैं, मथते हैं, और अधिक व्यथित रहते हैं। उसे पचा डालना चाहते हैं मगर यह भी जानते हैं कि उसे हज़म कर जाना ख़ूनके घूँट पीकर रह जानेके बराबर है। हम अपनी व्यथाको पचाना चाहते हैं, ऐसे कि उसका सत बदनमें लगे, न कि ऐसे कि हम और दुबले होते जायँ। हँसनेकी बात नहीं है, जिसने यह कहावत बनायी होगी कि भैंसके आगे बीन बजाये भैंस खड़ी पगुराय, उसने निश्चय ही किसी पूर्वग्रहसे प्रभावित होकर भैंसके प्रति ऐसा निन्दात्मक वक्तव्य दिया होगा। नहीं तो किसे पता है कि भैंस जब पगुराती रहती है तब सोचती नहीं रहती है। यों हम चाहें कि पान चबाते जायँ और सोचते जायँ तो नहीं हो सकता। पानका रस इसीमें है कि उसीपर सारा ध्यान केन्द्रित कर दिया जाय; यह भी डर है कि पीक थूकनेके साथ ही वह अवस्थिति नष्ट न हो जाय। और अगर चाहें कि भोजन करते जायँ और अपनी व्यथाको समझते जायँ तो वह तो कदापि नहीं हो सकता; यद्यपि उसका न होना हमारे लिए श्रेयस्कर नहीं है। भोजन तो आन्तरिक व्यथाको एक तात्कालिक तुष्टि दे देता है, हम ख़ुश हो जाते हैं; अपनी व्यथा अगले भोजन तकके लिए

भूल जाते हैं । इसके विरुद्ध आप कोई प्रमाण दें तो कह सकते हैं कि हम जब बहुत व्यथित होते हैं तो भोजन करनेकी इच्छा ही नहीं होती । वह मैं मान लूँगा और आप ही की बातके पक्षमें कहूँगा कि वह हमारी महत्ताका सूचक है । हमारी व्यथाका प्रतिकार स्वाद-तुष्टिसे नहीं हो सकेगा; वह विशाल और व्यापक है, समस्त सुखोंमें-से किसी एकके नहीं, सभीके अभावकी वह व्यथा है, फिर उसका किसी तुच्छ तुष्टिपर क्यों बलिदान कर दिया जाय । उसी मनोविज्ञानसे हम दुःखी होनेपर भोजन नहीं करना चाहते, करते भी हैं तो कुछ सादा रूखा-सूखा, जो स्वादके लिए नहीं, शक्तिके लिए किया जाता है ।

हाँ, बात हो रही थी कि सुनना हीन है और बोलना श्रेष्ठ । हम कह चुके हैं कि इस वैज्ञानिक तथ्यको हम जानते हैं कि बोलना और सुनना एक ही क्रियाके दो भाग हैं; अपनेमें अलग-अलग ये सम्पूर्ण नहीं हैं । किन्तु यह भी तो देखते हैं कि आज कितने ही लोग बोलना चाहते हैं मगर उन्हें बोलने नहीं दिया जाता और लोग उन्हें सुनना चाहते हैं मगर सुन नहीं पाते । यह भी देखते हैं कि कितने ही लोग बोलते हैं, और उन्हें कोई सुनता नहीं, फिर भी वह बोलते हैं । यह भी देखते हैं कि कितने ही लोग सुनना नहीं चाहते मगर उन्हें सुनना पड़ता है । अपनी बात कहूँ तो यह कह सकता हूँ कि मुझसे कोई बोलता ही नहीं किन्तु यह वही चीज़ है कि मेरी कोई सुनता ही नहीं और इससे फिर यह प्रमाण मिलता है कि बोलना और सुनना एक ही क्रियाके दो भाग हैं—एक दूसरेके सापेक्ष हैं ।

इस बातको और स्पष्ट किया जा सकता है; बोलना सुननेसे

कुछ बड़ा होते हुए भी नितान्त सुननेपर आश्रित है। कोई आपसे कुछ कह रहा हो और आप सुन न रहे हों, तो सम्भव है आपको अपनी अन्यमनस्कताके लिए कुछ कटु-वचन सुनने पड़ें, या आपसे यह भी कहा जा सकता है "जाइए, हम आपसे नहीं बोलते"। तब आप तुरन्त सुननेवालेकी पदवीसे तरक्की पाकर बोलनेवालेकी पदवीको प्राप्त हो जाते हैं और जब आपका उन्हें मनाना शुरू होता है तो यह भी कहते हैं कि "सुनो तो", "सुन तो लो", "अच्छा एक बात सुन लो" और यह भी कहते जाते हैं कि "बोलो," "बोलो तो", "एक बार बोल दो"। यह बात ग़ौर करनेवाली है कि आप बोलनेवालेके ऊँचे स्थानपर तभी तक रहते हैं जब तक उनको मनाते रहते हैं, उनका मान द्रवित हुआ नहीं कि फिर आप फिर श्रोता बन गये, भले ही किसी एक ही शब्दको सुननेके लिए आपने वह अधःपतन स्वीकार किया हो।

और बहुधा वह शब्द एक छोटा-सा 'हाँ' या 'नहीं' हुआ करता है, और इन्हीं दो शब्दोंको सुनने या कहनेके लिए बोलने और सुननेका इतना लम्बा घात-प्रतिघात चलता है। अन्तमें आप यह न समझने लगें कि श्रोताके कर्तव्यकी इतिश्री मात्र सुननेहीमें है और ऐसा समझकर एक अतिरिक्त हीनभावना-से आक्रान्त न होने लगें, इसलिए मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि सुननेके बाद समझनेका महत्त्वपूर्ण कार्य भी आपहीको करना है। अभीतक तो यह रमणियोंके लिए कहा जाता था कि वे मौन रह जायँ तो उसका मतलब है 'हाँ'। कुछ तो कहते हैं कि मौनका मतलब केवल आधा 'हाँ' है और जब वे 'नहीं नहीं' कहने लगें तब समझिए कि पूरा 'हाँ' हुआ। परन्तु आजके युगमें जहाँ

आपके मतका मान तो है ही, स्त्री-पुरुषोंको समान मताधिकार भी प्राप्त है, पुरुष यदि मौन रह जायँ तो पुरुषोंके लिए भी यही नियम सच उतरेगा। इतना भेद अवश्य होगा कि आप कहें 'नहीं' तो उसका मतलब 'नहीं, ही होगा' 'हाँ' नहीं, हालाँकि 'हाँ' कहनेसे उसका मतलब 'नहीं' भी लगाया जा सकता है। कहता हूँ न कि सुननेसे भी बड़ा है समझना। मैं कहता हूँ 'हाँ' (अविश्वासके साथ) 'हाँ-हाँ,' (टालनेके लिए), 'हाँ' (खीझकर) 'हाँ' (पराजित होकर)। अब यह आपके समझनेपर है कि मेरे इस 'हाँ'के पीछे जो 'नहीं' है···नहीं नहीं आप समझे नहीं, जो नहीं है उसे आप कैसे देखेंगे, मैं कह रहा हूँ कि जो 'नहीं' है उसे आप देखलें।

'हाँ' कहनेके लिए मैं मौन भी रह सकता था; मौन रहनेसे आप समझ तो जाते कि मैं 'हाँ' कह रहा हूँ परन्तु मौन रहनेमें एक उत्तरदायित्व और निहित है और वह है सुननेका उत्तरदायित्व। किसीकी बात सुनना हो तो मौन रहकर सुनें। और जब भी मौन हो जाता हूँ तो लगता है कि कुछ-न-कुछ सुन रहा हूँ, किसीका कभी कहा हुआ कोई वाक्य, कभी पढ़ा हुआ कोई वक्तव्य, कहीं सुनी हुई कोई बात, कहीं देखी हुई कोई घटना—सभी इन्द्रियोंके क्षेत्रोंसे आकर मेरी प्रतीति कानोंकी आश्रिता हो जाती है। जो देखा था, उसकी अपनी एक अलग स्वरलिपि बन जाता है। और नहीं तो अपने अन्तरकी आवाज़ ही कानोंमें गूँज उठती है, भले ही वह अस्पष्ट हो, क्लिष्ट हो, समझमें न आती हो, और मैं एक चिर-श्रोता बनकर रह जाता हूँ।

मौन और मौनमें परिमाणात्मक भेद तो नहीं हो सकता···

कम मौन और अधिक मौन...यह कहना ग़लत है; परन्तु मौन और मौनमें गुणात्मक भेद होता है। एक चुप वह है जो हज़ारको हराती है; एक चुप वह है कि कुत्ते भौंकते जाते हैं और हाथी चलते जाते हैं, एक चुप वह है कि भैंसके आगे बीन बजाये भैंस खड़ी पगुराय, एक चुप वह है जो लोग अपनी असलियत छिपानेके लिए बर्तते हैं : मुँह खुला नहीं कि असलियत खुली, और एक चुप वह भी है जिसका एक उदाहरण बचपनमें पढ़ी एक कवितासे दे सकता हूँ जिसकी पहली पंक्ति है "होम दे ब्राट हर वारियर डेड" और जिसमें सिपाहीकी पत्नी, पतिके शवके पास मौन बैठी रह जाती है, एकान्त मौन, अश्रुहीन, चीत्कारहीन मौन। उस कविताकी अन्तिम पंक्ति मुझे याद है। जब एक अन्य स्त्री उठकर सैनिक-पत्नीके अनाथ पुत्रको उसकी गोदमें बिठा देती है तब उसका कण्ठ फूटता है, वह कहती है "स्वीट माइ चाइल्ड, आइ लिव फ़ार दी।"

यों, मौन रहना, सुनते हैं, स्वास्थ्यदायक भी होता है। मौन-व्रत रखनेसे वृथा नष्ट होनेवाली शक्ति संचित होती है। बात विश्वास करने योग्य है। जब मन अविश्वास और असफलतासे दुर्बल हो उठे तब मौन ही शक्ति देता है। और मौन रहनेका कारण यदि यह हो कि समझमें नहीं आता क्या कहें, तो थोड़ी देर मौन रहकर सोच ही लेना अच्छा है कि क्या कहें। परन्तु यदि मौन रहनेका कारण यह है कि आपका विश्वास है "साइलेंस इज़ गोल्ड" तो यह जान लीजिए कि विना ज़रूरत बोल पड़नेका पश्चात्ताप उतना कभी नहीं होता, जितना ज़रूरत होते हुए चुप रह जानेका। मन पछताया करता है कि मैंने यह

क्यों नहीं उस समय कहा। यह इसीलिए कि बोलना ही हमारा श्रेष्ठ कर्तव्य है, अभिव्यक्तिका सरलतम माध्यम भी है, और न बोलकर हम रह नहीं सकते। आप न सुनें, वह तो सुनेंगे। वह न सुनें, वह तो सुनेंगे और इसीसे निष्कर्ष निकलता है कि हम बोलें तो आप सुनें। बात काटकर बोल पड़नेवालोंकी बात नहीं कह रहा हूँ। वह तो सुनना नहीं चाहते; किन्तु सुननेवालोंका अभाव नहीं। वही जो बोलनेका आदेश देते हैं श्रोता हो जाते हैं। कोई कहे "जय बोलो", कोई कहे "जब बोलो तब रामै राम," कोई कहे "बोल" (डाँटकर) और आप उसके आदेशपर बोलने लगें, यह मेरा अभिप्राय नहीं। परन्तु बोलिए, बोलिए न, क्या आपको मौन रहनेकी सुविधा है? मैं मौन रहूँ तो पता नहीं किस अनीतिकी स्वीकृति दे बैठूँ; पता नहीं किस वक्ताकी अवज्ञा कर बैठूँ क्योंकि मौन रहते-रहते कभी मुझे यह भी लगने लग सकता है कि आपकी बात नहीं सुन रहा हूँ और आपको शायद लगने लगे कि मेरा चुप रहना मूर्खताकी निशानी है। यह सब न भी हो तब भी मौन रहनेका प्रबन्ध नहीं, प्रयोजन नहीं क्योंकि मौन हो जाता हूँ तो लगता है कि चारों ओरसे उठ रहा है एक हाहारव और अन्तरसे उठ रहा है एक विद्रोहका रणघोष, और मेरे भद्दे मोटे होठोंका मौन जैसे दोनोंके बीच दीवार बनकर खड़ा हो गया है। फिर भी, जानता हूँ कि मेरा बोलना आपके सुननेपर आश्रित है और इसलिए, यह समझते हुए भी कि बोलनेकी अनुमति आपसे नहीं ली थी, कहता हूँ कि अब आप मुझे अनुमति दीजिए।

खुला घर

एक

जब बाहर नये साहित्यके जीतेजी उसका मूल्यांकन करने-वाले मानदण्डोंके टकरानेका शोर सुनता हूँ और अपनी नोटबुकके अन्दर अधलिखे वाक्यों. गोद-गाद, काट-पीट और उस उथल-पुथलको वैसेका-वैसा रक्खा हुआ देखता हूँ जैसे रचनाके रास्तेमें रख आया था तो मन एकदम अकेला हो जाता है।

दो

एक कवितामें किसी शिल्पको सार्थक करके अब दुबारा उसी शिल्पमें मन नहीं लगता। मैं अब एक कवितासे दूसरीमें जानेके साथ एक शिल्पसे दूसरे शिल्पमें भी जाना चाहता हूँ। एक शिल्पावस्थामें अब पहलेकी तरह बहुत दिन तक मन नहीं रह पाता—मुझे याद है एक ही ढंगसे कई कविताएँ मैं लिख चुका हूँ। अब शायद हर रचनाका एक अपना शिल्प है जो उसीमें प्रतिफलित हो जाया करता है।

तीन

कुछ लोग इस प्रकार बने ही होते हैं कि प्रेरणा दें। वे प्रोत्साहनका दम्भ नहीं करते, आदर्श भी वे नहीं होते। केवल एक विशेषता उनके चारों ओर रहती है, और उनकी कही हुई बात एक सूत्र हो ऐसा भी नहीं, किसी भी सामान्य अवसरपर

उनकी उपस्थिति, उनका लिखा हुआ एक पत्र हमें एक नयी ओर लगा देता है—निस्सन्देह विना उनके चाहे हुए। और यह परिणाम निकालना कि ऐसे लोग प्रेरणा देनेके लिए वैसा पत्र लिखते हैं उस प्रकारके व्यक्तिको बिलकुल न समझना है जिसका मैं वर्णन करना चाह रहा हूँ।

चार

अपने पिताकी जो अनेक स्मृतियाँ मैं जुटा सकता हूँ उनमें एक मुझे सबसे अधिक मुग्ध करती है। मैं प्राथमिक पाठशालासे निकलकर अभी ही उनके स्कूलमें भरती हुआ हूँ। चमचमाती धूप, ११ बजे दिनका सम्पूर्ण समय, विशाल हरा मैदान और वार्षिक खेल-कूदका समारोह। मुझसे ऊँची कक्षाओंके सुन्दर हृष्ट-पुष्ट विद्यार्थी चूनेसे खिंचे ट्रैकपर १०० गज़ और २२० गज़की दौड़ दौड़ रहे थे: जब कहीं ऊँची कूदकी प्रतियोगिता होती तो वह बाक़ी कार्यक्रमोंसे कहीं अधिक आकर्षक हो उठती। मैं खम्भोंपर धीरे-धीरे ऊँची उठती हुई उस पट्टीको सब भूलकर देखता रह जाता जिसे कूदनेवाले पार करनेके लिए दूरसे दौड़ते हुए आते थे, और जिसपरसे उछलकर नीचे भुरभुरी मिट्टीमें गिरते हुए उनके शरीरके रूपाकार सड़कपर चलते-फिरते रूपाकारोंसे कहीं अधिक सुन्दर होते थे। मुझे याद है मेरे पिताजीने क्रिकेटकी गेंद ली और वेगसे दौड़कर हाथमें शक्ति भरकर उसे आकाशमें फेंक दिया। सीधी ऊपर जाकर वह छोटी होती गयी और पिताजीके चारों ओर घेरा बना कर खड़े हुए उनके विद्यार्थी उत्सुकतासे उसपर आँख गड़ाये रहे: एक स्थलपर जाकर गेंद जैसे ठहर गयी

और फिर दुगनी तेज़ीसे नीचे आयी। जब आसानीसे वह पह-चानी जाने लगी तो पिताजीने अन्दाज़ किया और चार क़दम बायें हट कर गेंद रोक ली, गेंदका उनकी खुली हथेलीमें छपसे आकर बन्द होते ही एक सुन्दर गतिका वृत्त पूरा हो गया। वह स्वयं गतिमय हो गये थे और उस संहत क्षणमें जब गेंद उन्होंने रोकी वह एक ऐसे चित्रकी भाँति दिख रहे थे जिसमें गतिका एक मूर्त क्षण दृश्य कर दिया गया हो। यह सुन्दर था, और अपने पिताके अन्य सुन्दर रूपोंके साथ यह भी मेरी चेतनामें समाहित हो गया।

पाँच

मैं इनकार करता हूँ, इस विकृतिकी ज़िम्मेदारीसे, पर इस बातमें और इसमें कि मैं दूसरोंपर यह जिम्मेदारी डाल दूँ एक सूक्ष्म भेद है। मैं विवश रूपसे इस समस्त विराटका अंग हूँ पर इस तथ्यको जानना मेरे वशके बाहर नहीं है। 'मैं जानता हूँ' यही मुझे अलग करता है और जानना मेरी ज़िम्मेदारी है, समाजका रूप निर्धारित करना नहीं और इस वर्गका या उस वर्गका तो कदापि नहीं।

छः

कितना सम्पूर्ण होगा वह व्यक्ति जो सुन्दरको देख सकता है पर कुरूपकी उपस्थितिमें भी विचलित नहीं होता। निश्चय ही उसका अस्वीकार असुन्दरसे है, कुरूपसे नहीं। अपनी बात कहूँ तो अक्सर बदसूरत आदमीका सामने रहना परेशान कर देना है; हो सकता है उसके किसी अंशमें छिपी उस किरणको मैं पहली

बारमें न देख पाता होऊँ जो उसे अपनी सम्पूर्णता देती है—लोकभाषामें उसे 'वांछनीय' बनाती है, पर पहली बारमें जो नहीं देख पाता वह क्या कभी भी देख पाता है ? और जो पहली बार-में देखा नहीं जा सका वह क्या देखने योग्य भी है ? अभी तक मैं नहीं जानता।

सात

सारा घर अपने लिए खुला चाहता हूँ ताकि जहाँ चाहूँ जा सकूँ। यह भावना नहीं चाहता कि कमरेसे बरामदेमें जा रहा हूँ या स्नानघरमें गया और यह रसोईघर है या अब आँगनमें आ गया। निस्सन्देह, यह मेरी इच्छा है पर मेरे लिए अगर किसी वक़्त ज़रूरी है तो ठीक है।

आठ

एक नयी चीज़ हो रही है। जब कोई रचना मनमें रूप ग्रहण करने लगती है तो उसमेंसे एक और रूप प्रस्फुटित हो जाता है। दोनों कुछ दूर साथ साथ चलते हैं फिर अलग हो जाते हैं और एक स्पष्टतर हो उठता है, फिर दोनों समानान्तर चलने लगते हैं और दूसरा स्पष्टतर हो जाता है। एक दो बार मैं सफल हुआ हूँ दोनोंको बाँध लेनेमें और उन्हें बिलकुल अलग-अलग रखनेमें। मुझे लगता है कि यह ख़ाली रोचक नहीं।

नौ

देखा सामने :

बड़ा सा बोर्ड लटक रहा है। 'कृपया उधार माँगकर लज्जित न होइए'। हमने चारों ओर नज़र दौड़ायी। कई तरहके साबुनोंके,

तेलोंके, और बिस्कुटों, मुरब्बों या दवाओंके विज्ञापन लगे हुए थे, जैसे—

"सब-साफ़ : विशुद्ध चरबीसे निर्मित सर्वोत्कृष्ट साबुन। मैल भी काटता है कपड़ा भी।"

"महकमनोहर महुआ हेअर आयल : लम्बे केशोंका काल। रेशमी बालोंको मानिन्द जूनेके बनाता है।"

"सर्वप्राणहर : जिसकी बदौलत लाखों डाक्टर मालामाल हो गये। खाँसी-जुकामसे लेकर पागलपन तकके लिए एकदम व्यर्थ। जगत्प्रसिद्ध 'सर्वकष्टहर सुरा' की सर्वोत्तम नक़ल।"

असलियतको छिपानेकी कोई भी कोशिश नहीं की गयी थी। यह सब देखकर हमने डरते-डरते पूछा, "क्यों जी आपके यहाँ बिजलीके हीटर भी हैं ?"

"जी हाँ," कहकर उन्होंने हीटरनुमा कोई चीज़ अलमारीके पीछेसे खोज निकाली और झाड़-पोंछकर मेरे सामने पटक दी। "यह देखिए, बिलकुल देशी बना हुआ है। लेबिलपर मत जाइएगा वह तो विलायती लगा दिया है। यों मैं आपको यक़ीन दिलाता हूँ कि हर पुरज़ा इसी शहरका बना है और रद्दी-से-रद्दी है।"

हमने कहा कि भाई इतनी सचाईके साथ ये अपनी चीज़की बुराई कर रहे हैं, लिहाज़ा चीज़ ज़रूर उम्दा है। "अच्छा तो दाम क्या होंगे ?"

मालूम हुआ कि दाम सिर्फ़ बीस रुपया है। हम तो भौचक रह गये। सिर्फ़ बीस रुपया! हमने कहा, "साहब, इसके दाम तो कुछ कम मालूम पड़ते हैं, आप कुछ और बढ़ाइए।"

दूकानदार इसपर नाराज़ हो गया। कहने लगा, "आप चीज़ नहीं देखते, मँहगे दामोंपर जाते हैं। इसमें सबसे बड़ी ख़ूबी तो यह है कि इधर प्लग लगाया उधर फ़्यूज़ गायब। अगर कभी यह धोखेसे गरम भी हो जाय तो हमारे पास ले आइए। हम फ़ौरन इसे बिगाड़ देंगे। वैसे चल निकला तो चल निकला। फिर यह मोमबत्तीकी लौ की तरह आँच देगा। और सुनिए, सुबह नौ बजे चायका पानी चढ़ा दीजिए दफ़्तरसे लौटकर उबलता हुआ मिलेगा। एक घंटेमें अण्डा क्वार्टर बोइल होता है और सबसे बड़ी ख़ूबी यह है कि टोस्ट जलने क्या सिकनेका भी क़तई कोई डर नहीं।"

हमने कहा, "ठीक है, मगर दाम इसके कम हैं। कुछ और बढ़ाइए" तो स्पष्टवादी दूकानदार बोला, "सरकार औरोंको यही चीज़ हमने १५ रुपयेकी बेची, आपको २०में दे रहे हैं। आपके लिए यह ख़ास ज़्यादती है और आप और दाम बढ़वाना चाहते हैं। ख़ैर चलिए, आपको पच्चीसमें दे देंगे।'

हमने ज़िद की कि हम उसके चालीस रुपयेसे कम नहीं देंगे। भला यह भी कोई बात है कि ऐसी साफ़ बात कहनेवाला व्यक्ति अपना नुक़सान करे। मगर दूकानदारका कहना था कि यह हीटर मुझे मुश्किलसे तीन रुपयेका पड़ा होगा अब क्या बाक़ी मैं आपके घरसे लूँगा ? ख़ैर चलिए, आप तीस दे दीजिएगा।

हमने एक ठंडी साँस ली और उनके हाथमें दस-दसके तीन नोट गिन दिये। फिर हाथ जोड़कर उनसे अनुरोध किया कि वह एक आना पैसा हमसे और ले लें। वह राज़ी नहीं हुए। हमने सम-

झाया कि न आपकी बात रहे न मेरी, तीस रुपया और एक आना इसकी क़ीमत बिलकुल ठीक है ।

उन्होंने कहा "नहीं ।" हमने कहा, "नहीं ।" फिर उन्होंने कहा "नहीं ।" और फिर हम चले आये। इस प्रकार उनकी कृपासे हमारे पास एक आना बच गया । आना क्या बच गया समझ लीजिए कि इज़्ज़त बच गयी क्योंकि जिसके पास चार पैसे होते हैं वह इस दुनियाँमें इज्ज़तदार कहलाता है ।

दिल्ली : वसन्त

वर्षोंकी गणना वसन्तोंमें क्या कवि ही कर सकते हैं ? जैसे-जैसे जीवनकी व्यापकता बढ़ती जाती है उसके सौन्दर्यका कुछ-न-कुछ हिस्सा जनसाधारणका भाग बनता जाता है, और कालिन्दीके कुंज-संकुल-कोकिल-कूजित तटपर प्रकृतिकी मनोहारी छटा देखने चाहे कोई न भी जा सके (नयी दिल्लीमें न ही जाय, वहाँ कालिन्दीके तट बाढ़के कचरे या फटे पाइपसे रिसकर पीनेका पानी दूषित करनेवाले मैलेसे अनुरंजित हैं) पर राजधानीकी सामान्य सड़कोंपर और विशिष्ट बँगलोंके अहातोंमें समान रूपसे बिखरी वसन्तश्री इधरके दो-एक महीने लगभग सबकी हो सकती है। रहनेके लिए बँगला नहीं है, इस कुण्ठासे जो चहारदीवारीके ऊपरसे इधर झुक आये गुलमोहरके पुकार-पुकारकर दिखानेवाले वृक्षको भी न देख सकें, उनकी बात और है।

फ़रवरीके मध्यसे सेमल फूलने लगा है और कुछ ही दिनोंमें कौए उसके आकर्षक लाल डोडेको खाद्य समझकर उसपर आने लगेंगे— जब वह फटेगा तो चौंककर उड़ जाया करेंगे। बुगेनवेलियाकी मज़बूत और कँटीली झाड़ी भी, जो बेल भी बन जाती है, अभी ही अच्छी तरह फूली है, हालाँकि यह ज़िद्दी पेड़ कभी-कभी जनवरीसे ही फूलने लगता है और मई-जून तक फूलता चला जाता है; सड़कोंके किनारे, मकानोंके खम्भोंसे लेकर छतके एक

कोने तक, गोल चौराहोंके बीचमें, और मैदानोंमें जहाँ-जहाँ योजनानिष्ठ वृक्ष-विभागने हरियालीकी एकरसता भंग करनी चाही है, वहाँ-वहाँ बैजनीप्राय, सिन्दूरी, नारंगी और अबीरके रंगके लाल ढेर लगने लगे हैं—फूल आनेपर यह झाड़ी ऐसे ही दिखायी देती है। एक ही दो हफ़्तोंमें जहाँ-तहाँ इसके ठीक पार्श्वमें, अचानक नीले रंगका जैकेरेंडा फूल उठेगा और उसमें जल्दी झर जानेवाले छोटी-छोटी पाँखुरियोंके फूल इतने ऊँचेपर लगेंगे कि रंगका फ़ौवारा-सा मालूम देगा। लगभग इसी समय एक बड़प्पनके साथ, गुलमोहरका छाया देनेवाला, छतनार, नीचेसे ऊपर तक बहुत बड़े कच्चे पौधे-सा लगनेवाला पेड़, डालोंमें फुनगियों तक सशक्त लाल सिन्दूरी फूल दौड़ा देगा। उसका आकार बाहरसे जैसा प्रकाशमण्डित लगता है उसके नीचे खड़े होनेसे वैसी ही हरी छाया मिलती है।

उधर क्यारियोंमें फूलोंकी पूरी एक फ़सल खड़ी हो चुकी है। डाहलियाके क़रीब-क़रीब आदमक़द पौधे तैलचित्रोंके-से दलदार चटक फूल डुलाते हुए, कासमासके पतली नालों वाले, देखनेसे ही रक्षणीय लगनेवाले गाछ जिनके फूल बनावटमें इतने सादे होते हैं कि शायद उससे ज़्यादा स्टैंडर्ड फूलकी कल्पना नहीं की जा सकती पर जिनके रंगोंकी स्वच्छता असाधारण है—क़रीब-क़रीब एक कुआँरापन-सा उनके रूपमें होता है। एण्टिरिनम—कुत्ताफूल, फूलोंकी छड़ियाँ—मुलायम रंगोंके गुदगुदे फूल, पौधेके सिरेपर एकके नीचे एक पिरोये हुए; और दूरसे दिखनेवाली रंगोंकी अल्पनाओंमें न जाने कितने और कम प्रसिद्ध फूल—केवल पीला-कत्थई रंग बिखेर देनेके लिए कैलियाप्सिसकी बेचारी क्यारी,

डाहलियासे डाह करनेके लिए ज़िन्निया और ऐस्टर और मेरी-गोल्ड, जो दलदार भी हैं और प्रज्वलित भी पर अपनी-अपनी बिरादरीमें ही रह सकते हैं—उसकी शक्ति तक नहीं पहुँचते; पैरोंमें बिछी गझिन पौधपर उगाये हुए निरहंकार छोटे-छोटे फ़्लाक्स और वर्बिनो जो सड़कके बिलकुल किनारे भी ख़ुश है। कहीं-कहीं सजल नैस्टर्शियम, जो फूलोंमें कोमलतम लगता है यद्यपि फूल सभी बराबर कोमल हैं। और फुलवारी लगानेवालेकी रुचिके अनुसार कहीं-कहीं पृष्ठभूमिमें भोंडा हालीहाक-जैसे भिंडीके पौधेमें बड़ी मुश्किलसे किसी तरहका लाल फूल खिला दिया गया हो। ये कुछ ही फूल हैं। विलायती फूलोंकी विविधता दुर्गम है और सौन्दर्य इतना चक्षुर्गत है कि वर्णन करनेको कुछ रह ही नहीं जाता। अधिकांश फूलोंमें सुगन्धि भी होती है पर सुगन्धिके फूल वे मूलतः नहीं हैं इसलिए उनका वैशिष्ट्य उस सम्मिलित सुगन्धि-में ही है जो उनकी क्यारियोंके पास या कभी-कभी बैठकख़ानेमें भी तैरा करती है और पकड़में ज़रा कम ही आती है।

प्रयोग : सौन्दर्यबोधकी परम्परा

सामाजिक यथार्थको समझने और उसे प्रतिबिम्बित करनेका आग्रह अक्सर कविसे किया जाता है और कहा जाता है कि यह उसकी रचनाके हितमें है, यह उसे सच्चा कवि बनाएगा।

सामाजिक यथार्थको समझना कविके लिए आवश्यक है, और किसीके भी लिए उतना ही आवश्यक है।

लोगोंको अपने-अपने कामोंमें वह समझ जो उन्हें सामाजिक यथार्थके बारेमें है, मदद देती है और उनको मालूम नहीं होता कि वे अपनी उस समझको अपने कामोंमें प्रतिबिम्बित कर रहे हैं।

इन लोगोंमें-से ज़्यादातर सामाजिक यथार्थकी परिस्थितियोंसे केवल उन्हीं परिस्थितियोंसे उबरनेके लिए निबटते हैं और उबर जानेपर नयी परिस्थितियोंके लिए तैयार निकलते हैं।

कविके लिए भी ये परिस्थितियाँ (समाजकी वर्तमान अर्थ-व्यवस्था, सरकारकी पद्धति, प्रशासनकी प्रणाली, उद्योग, उत्पादन, ग़रीबी-अमीरी, रहन-सहनका स्तर, विज्ञान और कलाका प्रभाव इत्यादि) वैसे ही समझ और निबट ली जाने वाली परिस्थितियाँ हैं, जैसे किसी भी सजग व्यक्तिके लिए हैं।

तब क्या है, जो उसे केवल सजग नागरिक नहीं, कलाकार बनाता है ? वह सामाजिक वास्तविकताको जान-बूझकर आत्मसात् करता है और न उसकी परिस्थितिविशेषसे उबरना ही उसका उद्देश्य होता है, न उस परिस्थितिसे उबर लेते ही उसका तात्कालिक कर्तव्य पूरा हो जाता है।

प्रयोगके बहुतसे अर्थ लगाये गये हैं और उनको छोड़कर जो स्वयं नयी कविताके आन्दोलनमें सक्रिय रहे हैं, लगभग सभी आलोचकोंने अपनी स्थापनाएँ अलग-अलग की हैं। उन सबमें कोई समानता है तो यही कि वे प्रयोगके उस अर्थसे जो कलाकार अपनी रचना-प्रक्रियाका स्वयं विश्लेषण करके बता सकता है, कोसों दूर हैं।

सर्वाधिक प्रचलित भ्रान्तियोंमें-से एक नयी कविताके शिल्पको लेकर रही है और इससे अधिक प्रचलित यदि कोई भ्रान्ति रही है तो वह कलाकारके अन्वेषणके सम्बन्धमें है।

पहले अन्वेषणको लें। अन्वेषण ? किसका अन्वेषण यह है ? यह पहेली आलोचक आपसमें सुलझाते रहे हैं और इस पद्धतिमें व्यक्त अपने विचारोंको 'नयी कविताके समीक्षात्मक मूल्य' घोषित करते रहे हैं।

वह क्या है ? संक्षेपमें इसका उत्तर शायद नकारात्मक ढंगसे अधिक स्पष्ट दिया जा सकता है। अन्वेषण, सामाजिक यथार्थका ? नयी सामाजिक चेतनाका ? नये मानव-सम्बन्धका, नये काव्यतत्त्वके लिए नये छन्दका ? भाषाका ? हाँ भी, और नहीं भी।

क्योंकि प्रयोग जिस अन्वेषणकी उपज है वह इन सबमें किसी धरातलपर नहीं होता। ये धरातल किसी भी बुद्धिजीवीके कार्यक्षेत्र हो सकते हैं—कार्यक्षेत्र, जहाँ वह समझता है, ग्रहण करता है, और आत्मसात् करता है–रचनाक्षेत्र नहीं। रचनाक्षेत्र एक और ही धरातल है, जहाँ एक सम्पृक्त बुद्धिजीवी व्यक्तित्वमें अत्यन्त मौलिक अत्यन्त चिरन्तन कुछ आन्तरिक तत्त्व काम करते हैं। वे

तत्त्व क्या है ? आपके मेरे लिए वे तत्त्व वही हैं जो कालिदास के लिए रहे होंगे या जो अज्ञेयके लिए हैं—वही अपने ऊपर उठ जानेकी इच्छा, वही परिवर्तित यथार्थके सम्पुजनोंके भीतर छिपी परिवर्तित मानव-चेतनाकी अगली शृङ्खला खोज पानेकी इच्छा; पर स्वयं नयी मानव-चेतना नहीं। वह अवश्य परिवर्तन-शील है, पर कलाकार जिसका अन्वेषण करता रहता है, वह इससे भी द्रुतगतिसे परिवर्तनशील है। यही अन्वेषणको सार्थकता देता है। यही अर्थात् यह होड़ जो बुद्धिजीवी जीवनप्रेमी सजग नाग-रिक और अपने व्यक्तित्वसे प्रतिक्षण ऊपर उठ जानेका प्रयत्न करते हुए कलाकारमें बदी रहती है।

यह होड़ अनुभवोंके क्षणोंमें, केवल अनुभव नहीं, कलात्मक अनुभवके क्षणोंमें प्रतिफलित होती रहती है। रचनाके उद्‌गमका अधिकतम ज्ञेय रूप यही क्षण है और जल्दबाज़ आलोचकोंके फ़ायदेके लिए यह भी कह देना उचित होगा कि कलात्मक अनु-भवका क्षण अनिवार्य रूपसे 'क्षण'में ही तुरन्त विस्तृत काव्यखण्डकी सृष्टि नहीं करता। हो सकता है 'क्षण'में देखे गये काव्यरूपपर कलाकारको बहुत काफ़ी निर्माण करना पड़े और बिल्ला लगाने वालोंको अन्तिम रचनाका रूप, सप्रयत्न लिखी गयी प्राचीन कविताका-सा जान पड़ने लगे।

पर क्या उस कलात्मक अनुभवके क्षणका कोई एकान्तिक महत्त्व भी है ? है, जहाँ तक उससे कवि-द्वारा देखी गयी कविता-विशेषका सम्बन्ध है। और नहीं है, जहाँ तक कविके अन्वेषणका, उसके अपने व्यक्तित्वकी खोजका सम्बन्ध है। वहाँ कविको अपने इन क्षणोंको एक परम्परामें रखना होता है और इस स्तरपर जो

परम्परा आगे बढ़ सकती है वह कलाकी ही अपनी सौन्दर्य-बोध-की परम्परा है। कलाकारके लिए अन्य किसी परम्पराका महत्त्व नहीं; कलाकार, कला, कलासृष्टिके लिए अन्य कोई परम्परा व्यावहारिक ही नहीं। यदि वह समाजकी एक विशेष व्याख्यासे अनुप्राणित होता है, हो। यह वह सामाजिक यथार्थको एक ख़ास शक्लमें देखता है, देखे; या यदि वह एक ख़ास तरहके समाज, सरकार, प्रशासन, उत्पादन और सभ्यताकी आकांक्षा करता है, करे। वह सब उसका यों भी कर्तव्य है। बिना कलाकार हुए भी वह यह करता या कमसे-कम उसे करना उचित होता। एक सामाजिक प्राणीकी हैसियतसे वह इन सब सामाजिक पद्धतियोंका अपने लिए अन्वेषण करता है और अपना व्यक्तित्व निश्चित करता है; पर वह कलाकारका अन्वेषण, उसके व्यक्तित्वकी खोज, नयी कविताका प्रयोग नहीं है। बिना रचना किये हुए भी आप अपनेको एक सजग बुद्धिजीवी रसज्ञ प्राणी बना सकते हैं, जीवनके, समाजके, यथार्थके विविध पहलुओंसे और विभिन्न सम्पुजनोंसे गुज़रते जा सकते हैं—उन्हें वहीं निबटाते हुए, जैसे सभी सजग व्यावहारिक नागरिक करते हैं। लेकिन यदि आप कलाकार हैं तो आप निरन्तर उस कला-परम्पराके लिए चिन्तित रहते हैं जो परिवर्तनशील यथार्थके समानान्तर मानव-चेतनामें बनती आयी है, सौन्दर्य-बोधकी एक परम्परा है; आप उसमें जुड़ना और रचनाके प्रत्येक अवसरमें उससे और आगे बढ़ जाना चाहते हैं। चाहते हैं—यह ज़रूरी नहीं है कि हर प्रयत्नमें सफल हो ही जायँ। यह आपका प्रयत्न है, बाक़ी लोगोंको वहाँ तक पहुँचनेके लिए जो अचानक प्रयत्न करना पड़ता है वही कविताको समझने

शक्ति कह कर पुकारा गया है। जो यह प्रयत्न नहीं करना चाहते वे निःस्वार्थ भावसे आपत्ति कर सकते हैं, करते ही हैं। पर वह महत्त्वपूर्ण नहीं है। तो जैसे ही आप कुछ रच जाते हैं आप उस समस्त सामाजिक यथार्थके (उसे चाहे द्वन्द्वात्मक कहें, चाहे पूर्वनिश्चित कहें) प्रभावको अपनेमें एकाएक आत्मसात् करके तुरन्त उससे कुछ अधिक जान लेते हैं। इसके साथ-साथ और फिर बादमें जो होता है वह शिल्पके रूपमें प्रकट होता है। इस नयी स्थितिमें, अपने भीतर क्षण-भर पहले उखड़ी अपनी जड़ें फिर जमा सकनेकी कोशिश, कशमकश, शामिल है और जो अन्तिम परिणाम—शिल्प—निकलता है उसमें झलकती भी है। पर वह शिल्प ही प्रयोग नहीं है। प्रयोग तो उसके एक क्षण पहले ही हो चुका है। बाक़ी सब तो उसका स्वाभाविक आनुषङ्गिक है जिसके लिए शिल्पमें संघर्ष करनेको अब आप मुक्त हैं। लोग उस संघर्षको प्रयोग कहते आये हैं और उस संघर्षमें असफल रह जानेपर जो अकारथ सामग्री बच रही है उसीसे उदाहरण ले-ले कर बहुधा नयी कविताकी व्याख्या करते आये हैं। जहाँ संघर्ष सफल हो गया है वहाँसे इस तरहके मतपोषक उद्धरण चुनना मुश्किल भी है—वहाँ तो केवल सम्पृक्त, समग्र सौन्दर्य है—उसे ले लें तो ले लें और सबका-सब वैसेका-वैसा ले लें—अन्यथा, उसको लेकर पीछे चलते हुए, डिड्यूस करते हुए नयी कविताकी कोई सही व्याख्या नहीं की जा सकती, प्रयोगका अर्थ बिलकुल नहीं समझाया जा सकता और कविता तो ख़ैर समझी गयी होती तो यह उल्टा पथ लेनेकी ज़रूरत ही क्या थी।

इस तरह प्रयोग सामाजिक यथार्थके किसी विशिष्ट अंशको

आत्मसात् करनेकी क्रिया नहीं है, परिस्थितिविशेषमें प्रसूत रचना-के लिए अनुकूल छन्द, भाषा आदि साधन खोजनेकी क्रिया नहीं है। प्रयोगका संघर्ष सौन्दर्यके स्तरपर होता है, जीवनके अन्य बौद्धिक स्तरोंपर नहीं। क्योंकि जो संघर्ष उनपर होता है वह कलाकारकी तैयारी है, उसका इक्विपमेंट है और सामान्य प्राणियोंमें होनेवाले संघर्षसे भिन्न नहीं है।

साथ ही, प्रयोगकी उपलब्धिको रचनाविशेषकी भाषा या छन्द-गठनसे जाँचना मिथ्या है। यदि आलोचक कमोबेश उसी प्रयत्नसे अपनेको आधुनिक सौन्दर्यबोधसे तादात्म्य करके रख सका है जिससे कवि रखता है—यद्यपि दोनोंके तरीक़े और उद्देश्य अलग-अलग हैं तो वह नयी कवितामें प्रयोगकी उपलब्धि समझ सकता है। कोई दूसरा शार्टकट नहीं है। शिल्प और अन्य प्रासङ्गिक उपकरण अपनेमें विश्लेषणके विषय हो सकते हैं, ब्यौरे-वार अध्ययन करनेवालोंके लिए; पर वहाँ से परीक्षण आरम्भ नहीं किया जाना चाहिए। यह आग्रह नयी कविताके आलोचकोंपर कुछ बोझ ज़रूर डालेगा, पर यदि उतना अतिरिक्त बोझ उठाकर वे नयी कविताके उत्सुक पाठकोंको बहुत-सी भ्रान्तियोंका बोझ उठानेसे मुक्त रख सकते हैं तो क्या वे न उठायँगे ?

ईमानदारी

किसी भी क्षेत्रमें हो, ईमानदारी एक व्यापक गुण है, और इसीसे अब हमें लगता है कि 'किसी भी क्षेत्रमें हो' कहना ग़लत होगा। ईमानदारी वास्तवमें एक मौलिक गुण है और उस बौद्धिक स्तरका पर्याय है जिसपर आकर हमारा तर्क पूर्वग्रह और व्यक्तिगत रुचिके ऊपर उठ जाता है और जिसपर आकर हममें वस्तुओंकी वास्तविकताका सही अनुभव होता है। वह उस चेतनाके पहलेकी चीज़ है जो ज्ञानको क्षेत्रोंमें विभाजित करती है। जैसे ज्ञान समस्त एक है वैसे ही ईमानदारी भी समस्त एक है, क्योंकि वह केवल लेन-देनकी एक विधि नहीं है, एक मनो-वृत्ति है, या दृष्टिकोण है; और इस बातकी सच्चाई सीमेण्टके व्यापारी चाहे न समझें, लेखक ज़रूर समझेंगे।

यह कहकर हमारा मंशा यह नहीं है कि हम प्रकारान्तरसे कुछ लेखकोंपर दूसरोंके साहित्यसे चोरी करनेका अभियोग लगायें और यह तो हम कभी भी नहीं चाहते हैं कि अपनेको सब सुनने वालोंके ऊपर बिठाकर लेखकोंको सदुपदेश दें, चाहते हैं यह स्थापित करना कि आज जो साहित्य रचा जा रहा है (या जो नहीं रचा जा रहा है) उसके मूलमें इसी ईमानदारीका अभाव है। जब तक हम अपनी अनुभूतिको सुधारनेका उद्योग नहीं करते, और इसमें प्रतिभा अर्थात् मनोबलकी आवश्यकता तो पड़ती ही

है, तब तक नये प्रयोगोंका कोई अर्थ नहीं। इसी बातको यों भी कह सकते हैं कि तब तक हमारा कृतित्व एक बेईमानीका काम है।

इस अर्थमें ईमानदारी एक निरपेक्ष गुण है कि वह अभिव्यक्तिकी प्रेरणा है; जहाँ यह प्रेरणा वास्तविकताकी अपेक्षामें आती है वहाँ उसकी सीमाएँ बनने लगती हैं और यह सीमाएँ वहीं तक बनती हैं जहाँ तक हम वास्तविकताके प्रति जागरूक नहीं हैं। अगर हम वास्तविकताके अंशोंका अन्तरावलम्बन या अन्तर्विरोध देख सकें तो हम यह भी देख सकेंगे कि संहत वास्तविकता स्पष्टतया बदलती रही है, निश्चय ही ऐसे नहीं जैसे मौसम बदलता है बल्कि ऐसे जैसे कैलेण्डर बदलता है। वस्तुओंको चाहिए था कि अपने बारेमें हमारी धारणाओंको बदलती जातीं और जहाँ वे ऐसा नहीं कर गयीं हैं हम पिछड़ गये हैं। और ज़रा सोचिए कि एक ज़मानेकी किंकर्त्तव्यविमूढ़ताने हमें कितना पिछाड़ दिया है; अपनी स्वस्थ सांस्कृतिक परम्पराको हम जानते नहीं। अपने ही बौद्धिक आलस्यसे निकली हुई जिन मान्यताओंको हम स्वीकार किये बैठे हैं, जिनमें इस उत्पीड़ित जीवनके लिए एक थका हुआ स्वीकार है, मृत्युकी कामना है—चाहे कितनी ही शान-शौक़त और नफ़ासतसे उसका स्वागत किया गया हो—उनको ईमानदारीसे जाँचें तो अपने सांस्कृतिक व्यवधानको समझ सकेंगे, यह भी समझ सकेंगे कि क्यों हमारी रचनाओंमें शब्दोंकी गूँज-ही-गूँज है, अर्थ नहीं (वैसे गूँजमें भी अर्थ होता है परन्तु वह व्यंजना, वस्तुओंके व्यंजनात्मक सम्बन्धोंको समझे विना सम्भव नहीं) और क्यों कुछ आलोचक इस तरह

का आक्षेप कर सकते हैं कि प्रयोग प्रयोगके लिए हो रहा है या दूसरोंके साहित्यकी नक़ल की जा रही है। (वैसे वे आलोचक भी एक सांस्कृतिक व्यवधानमें पड़े हों तो !)

(एक लेखकके लिए दूसरोंकी रचना साहित्यकी वास्तविकता-का अंश बन जाती है, इसको लोग क्यों भूल जाते हैं। हाँ, यह बात लेखक ही भूल जायँ और दूसरे साहित्यसे इस प्रकारका बर्ताव करने लगें जैसे वह कोई ग़ैर हो, उससे कुछ 'लिया' जाय, 'पाया' जाय तो दूसरी बात है।

दूसरोंका अनुभव समस्त अनुभूतिमें जो वृद्धि करता है वह स्थायी रूपसे सार्वजनीन अनुभूति बन जाती है। हमारे लिए यह शेष रह जाता है कि हम उसको फिर अनुभव करें और उसे वैसे ही आत्मसात् करें जैसे धूप और हवाकी अपेक्षामें अन्यान्य रंगों और आकारोंको करते हैं। साहित्यिक ईमानदारीका एक यह इस्तेमाल है और अनुभूतिको सुधारनेका एक तरीक़ा है। आत्मसात् न किये हुए साहित्यका एक बहुत बड़ा हिस्सा हमारे लिए हमेशा नया रहेगा, उसे हम एक कौतूहलसे देखेंगे और नये शब्दों, नये छन्दोंको लालचसे अपनी भाषापर आरोपित करते रहेंगे, निश्चय ही शब्दोंमें नये अर्थ डालनेकी वह तरकीब ठीक न होगी।)

और इस मौलिक बौद्धिक जागरूकतासे लैस होकर हम जो अनुभव करते हैं उनका भी क्या प्रयोजन है जब तक वे अनुभव आचरणगत न हों। व्यक्तित्वके टुकड़े कर देने वाली पूँजीवादी जीवन-व्यवस्था हमारी जिजीविषाके टुकड़े नहीं कर पाती, यह सही है, परन्तु उसे व्यर्थ कर देती है। दोहरे या तिहरे व्यक्तित्व-

की अवश्यम्भाविता स्वीकार भी कर लें तो जीनेका काम कुछ सरल नहीं हो जाता। प्रतिभाका एक काम यह भी है कि वह इस समाजके तात्कालिक प्रलोभनोंके बीच भी बुद्धिके संगठनको बनाये रक्खे, किसी सरकारी फ़रमान या कम्पनी-कमानके हुक्म-से नहीं बल्कि अपनी सामाजिक वफ़ादारीसे, ताकि उसका साहित्यिक प्रयोजन और उसका सामाजिक प्रयोजन एक ही स्थान-पर पूरा हो सके और अपने कृतित्वको प्रकाशित करके लेखक ख़ुश ही नहीं, कृतकृत्य भी हो। यह स्थैर्य, खोजकी विकलता ही में मिल सकता है और क्या यह कहनेकी ज़रूरत है कि यह विकलता अनुभवकी विकलताही में मिलेगी। एक अनवरत प्रयत्न, वस्तुओंको अनुभव करनेका, उनकी व्यंजनाको आत्मसात् करनेका, यही ईमानदार लेखकका काम होगा। यह स्वीकार करेंगे कि जैसे-जैसे हमारी बौद्धिक सहानुभूति गहरी होगी अभिव्यक्तिमें व्यंजना आती जायगी, वह सीधा संवेदन कम होता जायगा जो किशोर-कवितामें होता है, मगर अभिव्यक्ति, जिसमें लेखककी रचना और पाठककी संवेदना दोनों सम्मिलित हैं, उतनी ही कुशल भी होती जायगी। जहाँतक लेखकका सम्बन्ध है (और वह काफ़ी दूर तक है) ईमानदारीका मतलब यही है कि वह उस बौद्धिक विकलताको लेकर जिये और उसे अस्वीकार न करे जो ज्ञान उसे दे जाता है और जो उसकी अनुभूतिको सुधार जाती है।

[सम्पादकीय : प्रतीक]

ईमानदारीके बाद

ईमानदारीको एक मौलिक गुण मानकर हमने यह स्थापित किया कि साहित्यकारके लिए अपनी अनुभूतिकी विकलताको लेकर जीना अनिवार्य है क्योंकि ईमानदारीका मतलब यही है कि वस्तुओंकी वास्तविकता और उनके अन्तर्विरोधको समझने-का, उसकी व्यंजनाको आत्मसात् करनेका एक अनवरत प्रयत्न किया जाय। अब यह सवाल उठता है कि वह प्रयत्न अपने ही में सम्पूर्ण है—ईमानदारीका मौलिक उपयोग यहीं समाप्त होता दीखता है—या कि कुछ और भी तत्त्व हैं जिनसे साहित्यकारका वह प्रयत्न सार्थक होगा ? उस मौलिक दृष्टिकोण या मनोवृत्तिके, जिसे हमने ईमानदारी कहा है, अलावा नहीं, के बाद एक दूसरे प्रयत्नकी आवश्यकता पड़ती है और वह यह है कि साहित्यकार अपने आदर्शोंको स्वयं बनाये, अनुभूत सत्यसे अपने ज्ञानका मिलान करे और यह कोनेमें दीवालकी ओर मुँह करके नहीं, बल्कि लड़ाईके मैदानमें आकरके। उस निरपेक्ष किताबी बौद्धि-कताको हम निर्वीर्य मानते हैं, जो साहित्यकारको इतना ही जाग-रूक बना जाती है कि वह उस जागरूकताकी चटख़ारियाँ लेता रह जाय फिर चाहे वह जागरूकता ऐतिहासिक हो और भौतिकवादकी द्वन्द्वात्मक पद्धतिके अध्ययनसे ही क्यों न प्राप्त हुई हो। वैसी बौद्धि-कता एक व्यसन है। द्वन्द्वात्मक पद्धतिकी कशमकश सामाजिक

जीवनके जीवनपोषक और जीवनविरोधी तत्त्वोंके बीच होती है, या फिर सद्यः प्रतिष्ठित विचारों और वास्तविकताकी नयी परिस्थितियोंके बीच होती है, दिमाग़ी अय्याशी और दिमाग़ी अय्याशीके बीच नहीं। यह सच है कि आदर्शोंका बना पाना कोई आसान काम नहीं होता, इसलिए कि आदर्शोंको कल्पनामें देख पाना बराबर है उनके लिए संघर्ष करनेके। उनके अनुकूल आचरण करनेका मतलब ही है उनके लिए संघर्ष करना क्योंकि जिस सामाजिक व्यवस्थामें जीवन-की कोई सुविधा नहीं उसमें अपने कल्पनागत आदर्शोंको कहींसे 'खोज निकालने' का प्रयत्न एक प्रकारकी जिमनास्टिक है—एक हास्यास्पद तपस्या है जिसे आप अपने मनके सन्तोषके लिए कर रहे हैं—उससे उन आदर्शोंकी प्रतिष्ठा होनेमें कोई सहूलियत नहीं पैदा हो रही है। यह भी सच है कि यह काम और भी मुश्किल उस वक्त हो जाता है जब आपकी जिजीविषाको मद्धिम रखनेके लिए पूँजीवादी सभ्यता आपके सामने कुछ तात्कालिक तुष्टियों या उपलब्धियोंको रखने लगती है और आप उनके लोभमें पड़ने लगते हैं। यहाँ 'लोभमें नहीं पड़ेंगे' इस प्रकारका जोशीला व्रत ले लेना भी आपको शोभा नहीं देगा—यदि वह निर्णय आपके दैनन्दिन संघर्षसे उद्भूत नहीं है। चूँकि यह सवाल जो अभी उठाया जा चुका है, वास्तवमें इन या इनके अलावा और भी प्रासंगिक अड़चनोंको सुलझानेका ही सवाल है, हमको अब यह देखना चाहिए कि हम अपने मौलिक दृष्टिकोणके बाद कहाँ तक सही हैं। हम यही नहीं पता लगाना चाहते कि हमारी आंखें पैनी हैं या नहीं; हमारा दृष्टिकोण सही है या नहीं, इससे भी हमको बहस है। हम ढंगसे खड़े हुए हैं, सिर, गरदन और कमर सीधमें

हैं या नहीं, यही जान लेना यथेष्ट नहीं होगा, यह भी जानना पड़ेगा कि हम खड़े कहाँ हैं।

समकालीन लेखकोंमें हमें स्पष्टतया तीन प्रकारकी चेतनाएँ मिलती हैं। एक तो वह हैं जिन्हें कुछ आलोचकोंने न जाने क्यों प्रयोगवादी कहना शुरू कर दिया है, दूसरे वे हैं जो व्यक्तिके महान् पौरुषमें विश्वास रखने लगे हैं और जिनकी अभिव्यक्ति व्यञ्जनाकी किन्हीं वैयक्तिक गहराइयोंमें डूबती चली जा रही है, तीसरे वे प्रगतिवादी हैं जिनकी बुद्धिने किसी एक विश्वासके साथ समझौता कर लिया है कि इससे आगे नहीं बढ़ेंगे; उनकी तर्कपद्धतिकी वैज्ञानिकता भी उनके मौलिक दृष्टिकोणकी दीनताके कारण हतलक्ष्य है। कहना न होगा कि ऐसे प्रकार भी निकलेंगे जिनमें इन प्रकारोंमेंसे दो या तीनका सापेक्ष मिश्रण हो। और यह भी है कि इन प्रकारोंमें ही इनके विपरीत प्रकार भी मिल जायँगे।

सही-सही अर्थमें प्रयोगवादी शायद ही हिन्दीका कोई कवि या लेखक हो। शायद ही कोई लेखक केवल रचना-शैलीमें नये-नये प्रयोग करनेमें ही अपनी कलाकी सार्थकता मानने लगा हो और उसने विचार-वस्तु और शैलीके परस्परावलम्बित सम्बन्ध-को झूठा क़रार दिया हो। यह तो है कि बहुतसे नये कवि-लेखकोंके लिए अनुभूति बराबर है पर्यवेक्षणके; उन्हें वास्तविकता-के अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक अंश मोह लेते हैं; उनके प्रति एक विस्मित भावसे वे उनके रंगों-रूपाकारोंको अपनी भाषा और शैलीमें जगह देते हैं; उनके अर्थसे उनसे मन तादात्म्य स्थापित नहीं करते। उनके प्रतीक इसलिए निर्जीव हैं; सजावट मात्र हैं

और वास्तवमें उनके किसी रागात्मक सम्बन्धके प्रतीक नहीं हैं। कहना न होगा कि ऐसे लेखकोंमें कुछ बिलकुल आरम्भ करनेवाले ही हैं, यों हैं वे संख्यामें काफ़ी—यह हम अपने पास प्रकाशनार्थ आयी हुई रचनाओंके आधारपर कह सकते हैं और उनसे यह प्रत्याशा की जा सकती है कि वे अपनी बुद्धिके परिपक्व होते-होते अपने दृष्टिकोणको स्थिर कर या न कर पायें। वहाँ उनका गहरे न उतर पाना यह नहीं साबित करता कि वे पंगु हैं, जन्मसे ही गहरे न उतर पानेकी अक्षमता लेकर आये हैं, बल्कि यह साबित करता है कि उनकी अनुभूति अभी इतनी सुघर नहीं है कि उनकी कविता वस्तुओंके अन्दरसे निकले, वस्तुओंको छूकर न निकल जाय। वहाँ वास्तवमें प्राथमिक ईमानदारीका अभाव नहीं है, प्रयत्नका हो सकता है, और यह भी सम्भव है कि जहाँ नहीं हो वहाँ भी असफलता ही हाथ लगी हो—मगर उससे समालोचकका कर्तव्य तो यही हो जाता है कि वह उस प्रयत्नको पहचाने, जहाँ हो वहाँ उसका आदर करे, अर्थात् उसकी असफलताका विश्लेषण करे। मतलबी पाठककी तरह वह कलाकृतिमें सफलता ही ढूँढ़ता रहे तो सम्भावनाओंके एक बहुत विशाल क्षेत्रको विना देखे लौट आयेगा; वह क्षेत्र दर्शनीय ही नहीं है, वहाँ अनुसन्धानके लिए काफ़ी काम है। पूछा जाय कि अनुसन्धान आलोचक क्यों करे तो हम कहेंगे कि इस सामाजिक व्यवस्थामें वञ्चित-वर्गके लेखककी मानसिक ऊहापोह एक रास्ता निकाल लेनेकी क्षमता अपनेमें हमेशा रखती है, उस समालोचकको जो साहित्यका एक सामाजिक प्रयोजन स्वीकार करता है, इस क्षमताको सार्थक करनेमें लेखककी मदद करनी चाहिए और वह यों ही हो सकता है कि

वह लेखकके और अधिक निकट आये। यह नहीं हो सकता कि समालोचक विशालतर, स्वस्थतर जीवनके लिए संघर्षकी आवश्यकता समझता हो, आज इस संघर्षको तीव्रतर बनाना कर्तव्य समझता हो और साथ-साथ यह भी समझे बैठा हो कि हम इस संघर्षकी एक रिपोर्ट तैयार करते रहेंगे; हमारा काम यही है कि जहाँ कहीं कोई विजेता देखें उठकर खड़े हो जायँ और बाक़ी तमाम संघर्षरत मानसोंके तड़पनेका तमाशा देखते रहें जब तक कि वह होता रहे। आज संघर्षकी स्थिति, जिसमें संघर्षके अभी तकके अनुभव भी शामिल हैं, यह माँगती है कि समालोचक सामाजिक चेतनाके सभी स्तरोंकी द्वन्द्वात्मक उपादेयताको स्वीकार करे, बौद्धिक विकासकी प्रणालीमें विचार और आचरणके बीच जो कशमश होती है उसकी ओरसे सजग रहे, अन्ततः प्रत्येक लेखककी सम्भावनाओंका आदर करे। उसकी यही प्रतिक्रिया, यही व्यवहार नये लेखकको वह देगा जिसके बलपर वह वास्तविक जन-जीवनसे और शक्ति, और प्रेरणा ले सकेगा। उधर लेखकको यह अनुभव करना चाहिए कि शैलीमें किया हुआ कोई भी प्रयोग विचारवस्तुके दिलोदिमाग़में उतरनेके तरीक़ेपर निर्भर रहेगा और ज़रूरी है कि वह अपनी अनुभूतिको उसी प्रकार सुधारे, ताकि कविता भी वैसी जानदार हो सके जैसी कि वे वास्तविकताएँ हैं जिनसे वह कविताकी प्रेरणा लेता है।

दूसरे प्रकारके लेखक वे हैं जो सचमुच अनुभवकी गहराइयोंमें गये हैं। उत्पीड़ित जीवनकी व्यथा उन्होंने वहन की है मगर फिर उसे माथेका एक अंग समझकर वहन ही करते रहे हैं, उनके इस तपके लिए उनके आगे श्रद्धासे सिर झुक जाता है। उनमें

पर्यवेक्षण और अनुभवकी क्षमता रही है और वह कष्टकी गलियोंमें बहुत भटके हैं, मगर आख़िरकार शहरमें अजनबी ही बने रहे हैं, कोई परिचित उन्हें नहीं मिला और सत्यको आख़िरकार उन्हें अपने ही अन्दर देखना पड़ा। उस स्वदत्त सत्यको वे अपने और शेष जीवनसे अलग एक तीसरी सत्ता मानते रहे हैं। कहा जायगा कि सत्यकी खोजमें ये लगे रहे तो क्या यह प्रमाणित करते रहे कि उनका मौलिक दृष्टिकोण ईमानदार रहा ? इसका जवाब यह होगा कि हाँ, मगर यह भी था कि उन्होंने उस मौलिक उपलब्धिको जीवनपर घटाया नहीं, वे अपने कष्टका कारण नहीं ढूँढ़ते रहे, समाधान ढूँढ़ते रहे। इस सामाजिक व्यवस्थामें ही नहीं, एक जीवन्त और उल्लसित भावी व्यवस्थामें भी ज्ञानका माध्यम सदा कष्ट ही रहेगा। कष्ट अर्थात् जीवनाभिलाषाकी व्यथा हमें चौंकाकर हमारी आँखें खोल जायेगी; यह हमारा काम होगा कि हम अचानक सामने जो देख पायें उससे घबराकर आँखें मूँद न लें, या फिर व्यथाकी एक जो मतुआही होती है—बहुत पैदल चलनेपर जो मादक थकान आ जाती है उसके जैसी—उससे अलसा न जायें। जागते रहनेकी एक तरकीब है—वह यह कि वास्तविक जन-जीवनके विकासोन्मुख तत्त्वोंसे अपनेको सक्रिय सम्बद्ध करते रहें। इन लेखकोंने यह नहीं किया है, इससे उनके मौलिक दृष्टिकोणमें ईमानदारी होते हुए भी उन्हें अभी तक रास्ता नहीं मिला; नहीं, यह नहीं कहेंगे, रास्ता किसी भी ईमानदार अन्वेषकको हमेशाके लिए नहीं मिलता; यह कहेंगे कि अपनी मौलिक ईमानदारीके बावजूद वे खो गये—क्योंकि उन्होंने ईमानदारीके

बाद भी अपने व्यक्तिकी झूठी आत्मसत्ता नहीं त्यागी, विराट् इतिहासकी सक्रिय शक्तियोंमें अपनेको समाहित नहीं किया।

तीसरे प्रकारके लेखक वे हैं जो अपनी मौलिक ईमानदारीसे प्रेरित होकर सचको खोजने निकले और नुक्कड़पर ही जो दूकान मिल गयी वहींसे उसे ख़रीद लिया। उन्हें यह अदम्य विश्वास है कि पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्थाका प्रतिकार, उसका निराकरण, एक सामाजिक सार्वभौमिक क्रान्ति द्वारा ही होगा— परन्तु अपने इस आदर्श ही को वे ध्येय मानने लगे हैं, बिना इस बातकी ओरसे सजग हुए कि जिस बौद्धिक निश्चयपर वे आ गये हैं वह अपनेमें ही साध्य नहीं है; वह परम्परा अर्थात् इतिहासके प्रति उनकी सक्रियताका आनुषंगिक है, उन्हें जीवनके प्रति एक विराट् और मानवीय लालसा रखनी है। बहुधा यह देखा जाता है कि ऐसे लेखक जीवनकी वेदनामेंसे गुज़रे ही नहीं होते। कष्ट तो जगमें बहुत होते हैं, उन्हें कष्टकी अनुभूति ही नहीं होती—एक कर्तव्यकी भावनासे प्रेरित होकर वे अपनी बौद्धिक शक्तिको भक्तिमें बदल देते हैं, गहरे नहीं पैठते, अनेक दैनन्दिन अन्तर्विरोधों, समस्याओं और उलझनोंकी अनदेखी कर जाते हैं। इनकी तुलना हम उस उतावले आदमीसे कर सकते हैं जो मंच तक पहुँचनेके लिए भीड़को धकियाता, कुहनियाता हुआ निकल जाय और समझे कि हम बहुत जल्दी लक्ष्य तक आ गये। इसके विपरीत हम उस चींटीकी उपमा ले सकते हैं जो अपने घरसे निकलती हुई क़तारपर चलती है, रास्तेमें हर चींटींसे ज़रा देर भेंटती है और बड़ी देरमें कहीं दूसरे गोदामतक पहुँच पाती है। वास्तवमें यथार्थके प्रति रागात्मक सहानुभूति प्राप्त करनेका यही

तरीक़ा है कि उसकी सचाईको हम अपनी वैज्ञानिक बुद्धिसे अनुभव करें, उसे अपने जीवनका एक अवयव बनायें ताकि वह एक संस्कार बन जाय और हम स्वयमेव उसके प्रति आर्द्र हो उठें; सही ढंगसे वास्तविकताको आत्मसात् करना प्राथमिक हो जाय और कलाके माध्यमोंमें उसकी अभिव्यक्ति उसका आनुषंगिक। जिस मानवीय संवेदनाकी बात 'प्रतिक्रियावादी' आलोचक उठाते हैं वह अपूर्ण है, क्योंकि उसमें उपरोक्त प्राथमिक शर्त पूरी नहीं होती। जिस उदार भावनाकी बात 'प्रगतिशील' आलोचक उठाते हैं वह तभी सम्पूर्ण होगी जब उसमें यह प्राथमिक शर्त मान ली गयी हो।

हाँ, एक और प्रकारके लेखक भी हैं, मगर शायद वे लेखक नहीं हैं क्योंकि उन्होंने धड़ल्लेसे स्वीकार करना शुरू कर दिया है कि वे मर चुके, अब उनमें जान नहीं रह गयी, साहित्य-साधना उनके बसकी बात नहीं रही और उन्हें छुट्टी दी जाय। इस स्वीकारसें ऊपरसे तो ईमानदारी दिखायी देती है मगर यहाँ ईमानदारी उनकी व्यवसायी बुद्धिका गुण है, कलाकारके सामाजिक प्रयोजनका आधार नहीं। वे यह मान लेकर जान छुड़ाना चाहते हैं कि मध्यवर्गीय लेखककी बौद्धिक उलझनका तर्कसंगत अन्त मानसिक कुण्ठा है—जो कि वह कदापि नहीं है—और अपनी स्वीकारोक्तिमें इसका कहीं उल्लेख नहीं करते कि पराजय माननेके पहले उन्हें किन-किन बौद्धिक समस्याओंका हल ढूँढ़ना पड़ा और किनका मिला या नहीं मिला।

इस प्रकार नये लेखकोंकी समस्या मूल रूपमें यह है : सामाजिक यथार्थको समझनेका किताबी गुर जानते हुए भी वे क्यों

नहीं अपने साहित्यमें वह शक्ति, वह मानवीय संवेदना ला पा रहे हैं जिसके बिना साहित्यका सामाजिक प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, साहित्यका 'अस्त्र' उस भोथरे छुरेकी तरह हो जायगा जिससे नाक भी नहीं कट सकती। दूसरे शब्दोंमें, अपनी मौलिक ईमानदारी अर्थात् अपनी प्रतिभाको कैसे प्रतिकृत किया जाय। जैसा कि पहले शुरूमें कहा जा चुका है—इसके लिए एक अनवरत प्रयत्नकी आवश्यकता है, जिसे कलाकारको एक मानवीय अंकुशसे बाधित होकर सतत करना चाहिए, एक धार्मिक आदेशसे चालित होकर नहीं। यह प्रयत्न है अपनी अविभाजित बुद्धिसे वास्तविकता को निरन्तर आत्मसात् करते रहनेका, अपनी अनुभूतिको सुधारते रहनेका, ताकि जब घने कष्टसे मन गम्भीर हो उठे, जब व्यथामें जो व्यंग्य है वह भी वहाँ हो—नहीं तो व्यथा ही कैसे वहाँ होगी—ताकि जब माथेपर हृदयके कष्टका भार ढोते-ढोते हम अपनी दुःख-गाथामें ही गौरवान्वित अनुभव करने लगें, तब हमारी सामाजिक चेतनाका अपराजित बल हमें जीवनपोषक उन शक्तियोंसे मिलाये जो हमारे अन्तरकी जिजीविषाके लिए संघर्ष करती हैं, ताकि तब हम प्रणत विनत होकर किसी प्रभुको न पुकार उठें, बल्कि अपनी अनुभूतिको सुधारें, जिससे अपनी वेदनाको समझते भी जायें और उसका प्रतिशोध भी लेते जायें। इसीमें निष्कृति है।

[सम्पादकीय : प्रतीक]

हिन्दीके एक सम्पादकसे भेंट

एक मझोले आकारकी मेज़पर वह बैठे हुए थे। उनकी कुर्सी घूमनेवाली और गद्देदार न थी, मेज़पर मढ़ा हुआ मोमजामा जगह-जगहसे चिटक गया था, और उसके पाये खौसहे हो गये थे। दीवालोंपर बड़े-बड़े चार्ट और नक़्शे गर्दसे दीवालकी रक्षा कर रहे थे—यही उनका प्रमुख उद्देश्य मालूम होता था। ध्यानसे देखा तो मालूम हुआ कि वे नक़्शे नहीं सड़कपर लगानेके लिए प्रचारित पोस्टर हैं। सम्पादकजीके दाहिने हाथकी ओर एक रैक था। उसमें आमतौरसे जिसे 'सामग्री' कहा जाता है वह भरा हुआ था—टाइप किये हुए लेख, हाथके लिखे हुए लेख, साइक्लोस्टाइल की हुई प्रतियाँ और साथमें किसी मन्त्रालयका कई साल पुराना प्रतिवेदन, तह किये हुए दस-पाँच अख़बार—और यह सब देखनेसे ही धराऊ ऐसा लगता था।

मैंने कहा, "नमस्ते, मैं आपके पास आपका बहुमूल्य समय लेने इसलिए आया हूँ कि मुझे एक छोटी-सी लेख-योजना आपके सामने रखनी है। संक्षेपमें मैं आपको बताता हूँ।" सम्पादकजीने कहा, नहीं, सिर खुजलाया, बोले, "क्या लेख योजना है ?"

मैंने कहा, "आजकल अंग्रेज़ी पत्रोंमें देशके जन-जीवनके अनेक पहलुओंको लेकर समझदार लोग अपनी राय प्रकट कर रहे हैं। आप यह न समझें कि मैं आपसे अंग्रेज़ीका अनुकरण करनेका अनुरोध करने आया हूँ, मेरा प्रस्ताव है कि हिन्दी पत्रोंको भी

जनमतका विकास करनेमें ऐसे लेख इत्यादि प्रकाशित करके योग देना चाहिए जो केवल कुछ निश्चित मान्यताओंका पोषण न करते हों, लोगोंमें नयी मान्यताओंके लिए उत्सुकता भी उत्पन्न करते हों। यह सोचकर मैं आपके पास आया हूँ कि आपका पत्र हिन्दीका बहुप्रचलित पत्र है, मुद्रण और प्रकाशनकी सुविधाएँ भी आपके पास मामूली नहीं हैं और आप किसी विचारधाराका एकांगी समर्थन करनेमें भी विश्वास नहीं रखते हैं।"

सम्पादकजीने जैसे कुछ सोचकर कहा, "हाँ, यह तो ठीक है।"

"मैंने सोचा है कि हमारे देशमें जो बड़े-बड़े भौतिक परिवर्तन हो रहे हैं उनके साथ कुछ मानसिक और भावनात्मक परिवर्तन भी हो ही रहे होंगे। सरकार और उसके अमला भौतिक परिवर्तनोंकी योजना और परिकल्पना तो कर सकते हैं पर हर बार ऐसा देखा गया है कि जन-मानसपर होनेवाले प्रभावको पूरा-पूरा देख नहीं पाये हैं।"

सम्पादकजी थोड़ा-सा व्यग्र होने लगे। हो सकता था कि मेरी भूमिका लम्बी हुई जा रही थी पर आजकल एक प्रवृत्ति यह भी है कि जो भी व्यक्ति आलोचनात्मक बातें करता पाया जाता है उसकी तरफ़से एक ख़ास तरहकी शान्तिके प्रेमी, विमुख होनेमें ही रक्षा समझते हैं। आप कह सकते हैं कि सम्पादकजीसे अधिक परिचय पाये विना ही मैंने उन्हें इस प्रकारके व्यक्तियों-की श्रेणीमें क्यों मान लिया ? तो भी, मुझे लगा ऐसा ही।

"मैं चाहता हूँ कि मैं हिन्दीके और बादमें अन्य भाषाओंके भी समर्थ और प्रतिष्ठित साहित्यिकोंके पास जाकर उनसे देशमें

होनेवाली सार्वदेशिक घटनाओंके बारेमें कुछ प्रश्न पूछूँ। लेखक होनेके नाते उन साहित्यिक गुरुजनोंसे यह अपेक्षा करूँगा कि वे अपने देशके जनको, जन-मानसको समझते होंगे और उसमें होनेवाले सभी कुछके प्रति अपने-अपने ढंगसे सजग होंगे। इस-लिए उनके उत्तरोंका एक विशेष अर्थ होगा। हो सकता है कि वे उत्तर रोचक भी हों बल्कि मुझे विश्वास है कि होंगे ही। यदि ये उत्तर एक लेखमालाके रूपमें प्रकाशित किये जायें तो मेरा ख़याल है कि आपके समस्त पाठक, जो निश्चय ही देशके बुद्धिजीवी वर्गका काफ़ी महत्त्वपूर्ण अंश होंगे, कई राष्ट्रीय समस्याओंके प्रति पहलेसे अधिक सजग होने लगेंगे। यह भी सम्भव है प्रकिकारान्तर-से इन लेखकोंके विचारोंका आलोच्य समस्याओंके उपायोंपर भी प्रभाव पड़े। पर वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है। यदि वह पड़ता है तो अपने ढंगसे अपनी शक्ति भर पड़े, अच्छा ही है।"

इससे अधिक मुझे कुछ नहीं कहना था। मैं सम्पादकजीके मुँहकी ओर देखने लगा कि वह क्या कहते हैं।

सम्पादकजी देखनेसे ही बहुत कष्ट झेले हुए, बहुत थपेड़े खाये हुए लगते थे। उनके चेहरेपर एक अद्‌भुत शान्ति थी। अद्‌भुत इसलिए कि उसमें शान्तिका तेज नहीं था, केवल निष्क्रियता थी। उनके चेहरेपर मैं कोई प्रतिक्रिया नहीं पढ़ सका। आँखोंमें केवल एक बुझा हुआ उत्साह एक बारको मानो चमक-सा गया और दूसरे ही क्षण फिर बुझा हुआ उत्साह बन गया। अन्तमें केवल संशयकी एक झलक स्पष्ट रह गयी।

उसीसे उन्होंने अपना उत्तर आरम्भ किया, बोले "हाँ, लेकिन ऐसे विषयोंपर जानकार लोगोंके ही लेख हम छापते हैं। एक तो

आजकल ऐसे विषय भी कम मिलेंगे जिनमें जनसाधारणको रुचि हो। जनता तो कुछ हलकी-फुलकी चीज़ ही पसन्द करती है। आप कौन-सा विषय सोच रहे हैं ?" मैंने कहा, "कोई भी विषय ले लीजिए। मेरी रायमें सभी विषयोंमें रुचि हो सकती है अगर उनमें रुचि पैदा की जाय तो। अब इसी दशमिक प्रणालीको ही ले लीजिए। ज़रा सोचिए कि सारे देशके सोचने और रहने-सहने के तरीक़ेमें कितना बड़ा परिवर्तन हमने परिकल्पित किया है। अगर वे लोग, जो कि इस परिवर्तनसे जनसाधारणकी ही भाँति प्रभावित होंगे पर जो जनसाधारणकी अपेक्षा अधिक जागरूक हैं, अपने विचार प्रगट करें तो किसे उसमें रुचि न होगी ?"

सम्पादकजीने मेज़पर पड़ी हुई सम्पादकत्वकी आदि-चिह्न कैंचीको उठाकर फिर उसी जगह रखते हुए कहा, "हाँ, लेकिन दशमिक प्रणालीके बारेमें पत्र-सूचना-विभागने बहुत कुछ सामग्री हमें भेजी है और बड़े-बड़े अर्थशास्त्रियोंके लेख भी तमाम जगह आ रहे हैं। रेडियोपर भी कुछ-न-कुछ होता ही रहता है। जब एक चीज़ होने जा रही है तो उसको रोकना इस अवस्थामें ठीक नहीं होगा।"

मैंने कहा, "रोकनेका प्रस्ताव मैं नहीं कर रहा हूँ। पत्र-सूचना-विभाग तो सूचनात्मक लेख दे रहा है; जो लेखमाला मैं आपको दूँगा वह विवेकशील जनमत बनानेसे अधिक और कुछ नहीं करना चाहती। किसी प्रौद्योगिक या प्राविधिक सूचनाका खण्डन करनेकी उसमें शक्ति ही नहीं होगी।"

स्पष्ट था या तो मैं अपने प्रस्तावका तत्त्व भलीभाँति बता नहीं पाया था या सम्पादकजी समझ नहीं पाये थे। इसमेंसे पहली

सम्भावना ही अधिक होगी यह मान कर मैंने इतना और जोड़ा कि यह लेख बिलकुल ग़ैरजानकार लोगोंके लेख होंगे या उन लोगोंके जो सिर्फ़ मानव-मनके जानकार हैं या होनेका दावा करते हैं।

अब सम्पादक जी मेरी योजनाको पूरी तरह समझ गये थे और उनके सामने सिर्फ़ दो रास्ते थे, या तो वह उसे स्वीकार कर लें या अस्वीकार कर लें। पर मैंने देखा कि वह अनिश्चयके एक ऐसे मुँहबन्द देग़में डूब-उतरा रहे हैं कि मुझे अपने ऊपर ग्लानि होने लगी। कहीं कोई ऐसी चीज़ है जिसने मेरे सामने बैठे हुए तीस हज़ार पाठक-संख्यावाले, रोटरीपर छपनेवाले देश-प्रसिद्ध हिन्दी दैनिकके सम्पादकको चारों तरफ़से बन्द कर दिया है। उस ख़ोलमें किसी नये विचारकी, नहीं, विचार तो बड़ी चीज़ है नयी सूझकी हलकी-सी किरण आ जानेसे उसके अन्दरका सारा वायु-मण्डल विचलित हो उठता है। मेरा अनुमान था कि जिस सम्पादकके सामने यह योजना रखूँगा वह उसपर थोड़ी देर सोचेगा और खटाकसे 'हाँ' या 'न' कहकर अपना क़ीमती वक़्त बचाते हुए मुझे विदा कर देगा, पर वह यहाँ बिलकुल ग़लत निकला।

"तो आप किस लेखकके पास जायँगे ? आज कल दिल्लीमें बनारसीदासजी हैं, दिनकरजी हैं, ये लोग बहुत व्यस्त रहते हैं और इनके लेख इत्यादि हमलोग सांस्कृतिक विषयोंपर छापते ही रहते हैं और फिर सभी लोगोंके पास जानेसे तो कोई लाभ भी नहीं है और फिर यह भी है कि हमारे पत्रमें इतना स्थान भी नहीं है। हिन्दीका टाइप भी एक विशेष कठिनाई पैदा करता है, जगह ज़्यादा लेता है, फिर आप सब लोगोंसे मिल करके और

अपने प्रश्नोंके उत्तर उनसे लिखवा करके इतनी दौड़-धूप करेंगे यह सब कुछ ऐसा ही होगा कि बहुत छोटी चीज़के लिए बहुत अधिक प्रयत्न करना पड़ेगा।"

मैंने कहा, "दौड़-धूप इसमें बहुत नहीं है, जो कुछ है वह तो मेरा सिरदर्द है। आप मुझे स्वीकृति देना चाहें तो देकर कृतार्थ करें। लेख छोटे-छोटे होंगे। एकाध कालम स्थान निकालना पड़ेगा, ज़्यादा नहीं, बस।"

सम्पादकजीको अचानक अपने खुलते हुए ख़ोलका ढक्कन मिल गया और उन्होंने झटसे उस पतली-सी झिरीको बन्द कर दिया जो मैंने किसी तरह उनके अवगुण्ठनमें डाल दी थी। बोले, "बात यह है कि हमारे यहाँ कालमके हिसाबसे पेमेण्ट तो होता नहीं, और पेमेण्ट तो आप जानते हैं कि हिन्दी पत्रोंमें कितना होता है। फिर महीनेमें एक या दो लेख छपनेसे आपका क्या काम चलेगा?"

मैंने उन्हें उनकी सहानुभूतिके लिए मन ही मन धन्यवाद देते हुए प्रगटमें केवल हँसकर इस प्रश्नको टाल दिया। यदि सम्पादकजी समझते हैं कि हिन्दी पत्रकारिता एक दो लेख लिख देनेवालेको ही रास आ सकती है तो मेरा उनसे मतभेद है। बहुत काम करनेकी और बहुत दिशाओंमें काम करनेकी ज़रूरत है, प्रकाण्ड विद्वानोंका वह युग गया जब दो शोधपूर्ण लेख लिखकर हिन्दी पत्रिकाओंको कृतार्थ किया जा सकता था।

सम्पादकजी बोले, "आजकल तो बड़ी बुरी दशा है। हर आदमीको कुछ-न-कुछ और काम करना ही पड़ता है तभी रोज़ी चलती है। लिखनेवालोंको भी आजकल विना कुछ ऐसा लिखे

हुए कि जो प्रकाशक वग़ैरह जल्दीसे छाप सकें, काम चलाना मुश्किल है।"

निस्सन्देह मुश्किल है, मैंने अपने मनमें कहा, और मुश्किल क्या नहीं है, पर महावीरप्रसाद द्विवेदीके ज़मानेमें शायद आज-से कम मुश्किल नहीं था। क्या अब वह ज़माना आ रहा है जब लेखक और सम्पादक उस युगप्रवर्तक सम्पादकको सिड़ी और सनकी समझने लगेंगे। मेरे मनमें लेखमालाकी योजनाका विषय परे हट गया और सम्पादकजीसे केवल वार्तालाप करनेका लोभ रह गया।

मैंने कहा, "देखिए आजकल अंग्रेज़ीसे अनुवाद किया हुआ जो कुछ हिन्दी पत्रोंमें छपता है वह मान लीजिए हिन्दीमें ही लिखा जाता तो क्या उतने लेखकों और पत्रकारोंको काम न मिलता?"

"बात यह है कि अंग्रेज़ीमें लिखी हुई वह सामग्री तुरन्त उपलब्ध हो जाती है, सरकारी विभागोंसे सब सही-सही सूचनाएँ अंग्रेज़ीमें ही मिल जाती हैं, अंग्रेज़ीके अख़बारोंसे काफ़ी सामग्री हम लोगोंको लेनी ही पड़ती है।"

"मेरा निवेदन है कि यही सारे प्रश्नकी जड़ है। क्या सर-कारके यहाँ ऐसे लोग नहीं हैं या नहीं रक्खे जा सकते हैं जो सामूहिक विकास-कार्योंका सर्वेक्षण करके हिन्दीमें एक प्रतिवेदन लिख सकें? क्या हर छोटीसे छोटी टिप्पणी और सार्वजनिक सूचना अंग्रेज़ी हीमें लिखी जानेसे सरकारी काम दुरुस्त रह सकता है? और, क्षमा कीजिएगा, ज़िलोंके जो समाचार आपकी प्रकाशन-संस्थासे प्रकाशित होनेवाले अंग्रेज़ी पत्रोंके संवाददाता

भेजते हैं वे आपके हिन्दी पत्रके लिए अनिवार्य हैं ? आपकी पाठक-श्रेणी और है, आपकी आवश्यकताएँ और हैं, आपका रवैया, तौर-तरीक़ा, ढंग सभी कुछ अंग्रेज़ीसे भिन्न एक पाठकसमाज, परन्तु एक ही एक सामाजिक जीवन, एक जीवनसंस्कृति और एक ही उद्देश्यके अनुरूप होना चाहिए। क्या आपको छोटे-छोटे शहरों और ज़िलोंमें ऐसे संवाददाता रखनेकी सुविधा नहीं मिल सकती जो केवल हिन्दी जाननेवाले सामाजिक कार्यकर्ता न होकर अनुभवी पत्रकार भी हों और इस विचित्र उत्तरदायित्वको निभा सकें।"

"नहीं, ऐसा हो नहीं पाता। बात यह है···अब देखिए हिन्दी पत्रोंमें ये सब सुविधाएँ कहाँ ? न तो यहाँ कोई बड़ी मेज़ है, न बैठनेका अच्छा स्थान है, मगर धीरे-धीरे होगा। होगा अवश्य। हिन्दीको तो उन्नति करनी ही है। अभी संविधानके अनुसार भी पन्द्रह वर्ष बाक़ी हैं। समय आनेपर सब होगा।"

अच्छा, मैंने अपने मनमें कहा, अब मैं आपसे दो ही चार प्रश्न और पूछूँगा क्योंकि यह मुझे विश्वास हो चला है कि आप बिलकुल बन्द हैं और प्रकाशकी कोई किरण अपने अन्दर आने देना नहीं चाहते। ज़बरदस्ती आपके अन्दर वह रोशनी भरनेका प्रयत्न, जो आजके विचारशील उन्नतिशील देशप्रेमियोंमें होनी चाहिए, व्यर्थ होगा। उसमें शक्ति नष्ट करनेकी अपेक्षा मैं यही चाहूँगा कि जो कुछ रोशनी मेरे पास है उसीसे मैं स्वयं जो उजाला कर सकता हूँ करूँ, चाहे दियाली सा चाहे जुगुनू सा, पर उसका पूरा उपयोग करूँ। अब मुझे आपके सामने कोई योजना

नहीं रखनी है। योजनाओंसे आप घबराते हैं। आपको घबराकर मुझे कोई सुख नहीं होगा।

मुझे मौन देखकर सम्पादकजी कुछ सोचने लगे, फिर बोले, "अब देखिए, हम लोग कर भी क्या सकते हैं। अंग्रेज़ीवाले जो नयी चीज़ करना चाहते हैं उसकी उनके पास सुविधा आ जाती है। अभी नगरमें कोई उत्सव हो, अंग्रेज़ी पत्रके सम्पादकके पास मोटर है, तुरन्त जाकर देख आयेंगे, तुरन्त टिप्पणी लिख देंगे और दूसरे दिन अख़बारमें सब छप जायेगा। मेरे पास तो मोटर नहीं है और जाना भी चाहूँ तो बसके लिए खड़ा रहूँ और उसमें दो तीन घण्टे लगाऊँ और फिर उत्सव भी आजकल क्या होता है। मुझे तो कहीं जाना-आना अच्छा ही नहीं लगता।"

मैंने शरारतसे कहा कि मैं तो लगभग हर सांस्कृतिक उत्सव देखने जाता रहता हूँ, कहिए तो आपके लिए टिप्पणी लिख दिया करूँ। फिर गम्भीर होकर बोला, "आप नहीं जा सकते तो ऐसे हिन्दी लेखकोंकी कमी नहीं है जो सांस्कृतिक विषयोंकी समझ रखते हैं और उनसे बराबर उनका सम्पर्क रहता है, उनमेंसे कुछ आपके लिए अच्छे स्तम्भ-लेखक या टिप्पणीकार बन सकते हैं।"

"हाँ, ठीक है परन्तु ऐसे लोग कहाँ हैं, सब राजनीतिमें व्यस्त रहते हैं। बनारसीदासजी, नवीनजी, दिनकरजी इन लोगोंको इतना समय कहाँ, और फिर देखिए, बाहरके किसी आदमीसे लिखवा दें तो हमारे कार्यालयके लोग कहते हैं कि हम क्या नहीं लिख सकते थे ? और हमारे कार्यालयमें देखिए शिवशंकरजी हैं

उनको पहले सिनेमावाले चार पास दिया करते थे। फिर उन्होंने दो चार बार सिनेमा देखा भी, मुझसे भी कहा कि आप देख आइए। मुझे तो सिनेमा अच्छा लगता नहीं, परन्तु देखिए सिनेमावाले चाहते हैं कि उन्होंने पास दिया है तो उनकी तारीफ़ छापी जाये नहीं तो विज्ञापन बन्द कर देंगे, तो यह सब और अच्छा नहीं मालूम होता। इसीलिए मैंने कहा कि पास ही मत लो···।"

मैंने सोचा, ठीक है, अंग्रेज़ीमें अवश्य कोई ख़ास बात होगी कि उसके पत्र पास भी लेते हैं और आलोचना भी करते हैं और इन दोनों बातोंमें उन्हें कोई अन्तर्विरोध नहीं दिखायी देता।

"अब ये सब चीज़ें अच्छी नहीं मालूम होतीं। रेडियोवाले भी मुझे बुलाया करते हैं पर मैं कभी जाता नहीं। मैंने देखा कि वहाँ जानेसे लोगोंसे फिर कुछ न कुछ सम्बन्ध रखना पड़ता है, उनकी रचना आती है तो फिर लौटाना मुश्किल हो जाता है, और ये सब मुझे पसन्द नहीं।"

मैंने कहा, "रेडियो-समीक्षाका स्तम्भ आप चलाना चाहेंगे? प्रसरण भी एक कला-माध्यम है। रंगमंच और सिनेमाकी तरह उसकी समीक्षा होनेसे उसके कलात्मक मानदण्ड धीरे-धीरे प्रगट होंगे और हिन्दी साहित्यको एक नयी दिशामें प्रयोग करनेका अवसर मिलेगा। आपका पत्र इस सम्बन्धमें बहुत कुछ कर सकता है।"

"हाँ, नहीं, उसमें फिर यही बात हो जाती है कि हमारे यहाँसे जो आदमी लिखेगा वह रेडियोवालोंके लिए अच्छा बुरा जो

कुछ लिखे, उससे ज़रा ठीक नहीं रहता। कार्यालयके बाक़ी लोग कहेंगे कि इन्हींको प्रोग्राम मिलते हैं रेडियोसे। इसलिए रेडियो-समीक्षा भी हम लोग नहीं चाहते।"

"और पुस्तक-समीक्षा?" मैंने पूछा, "क्या उससे आलोचकोंको प्रकाशकों या लेखकोंसे घूस मिलनेकी आशंका रहती है?"

सम्पादकजीने कहा, "नहीं, पुस्तक-समीक्षा तो छपती है। हमारे पुस्तकालय विभागके अध्यक्ष पुस्तक लेते हैं तो वही लिख देते हैं। यह उन्हींपर छोड़ रक्खा है, विद्वान् आदमी हैं, संस्कृतज्ञ हैं और हिन्दीके बड़े प्रेमी हैं।"

"तब तो बहुत सन्तोषकी बात है" मैंने कहा, और उनसे बोला "अच्छा, आपका बहुत समय नष्ट किया, अब आज्ञा दीजिए।" उन्हें प्रणाम करते हुए मैंने मन ही मन ईर्ष्या की कि कितना सन्तुष्ट और कितना निरपराध, कितना अरिसक और कितना अविकार यह सम्पादक है जो राष्ट्रभाषा हिन्दीको सार्वदेशिक महाभाषाका रूप देनेके लिए इतने बड़े पत्रका सम्पादन कर रहा है। वह कोई नयी चीज़ करना नहीं चाहता। उसमें ख़तरा है और अंग्रेज़ी पत्रोंसे सामग्री लेनेमें, पत्र-सूचना-विभागकी विज्ञप्तियाँ ज्योंकी त्यों छाप देनेमें, अपने कार्यालयके लोगोंको विविध विषयोंके लेखक न बनने देनेमें, बाहरके लेखकोंका इसलिए उपयोग न करनेमें कि महीनेमें दो लेख लिखकर उनका काम कैसे चलेगा, और साहित्य-रंगमंच-सिनेमा-रेडियो इन सबसे नियमपूर्वक परहेज़ रखनेमें ख़तरा नहीं है, और जिसमें ख़तरा नहीं है वही हिन्दीके लिए ठीक है क्योंकि हिन्दी तो अब राष्ट्रभाषा है ही—इसमें क्या

कोई सन्देह है ? और जो भारत जैसे महान् सांस्कृतिक परम्परा वाले देशकी राष्ट्रभाषा हो उसको ख़तरा उठानेकी क्या ज़रूरत है ? क़तल, डकैती, अपहरण, बलात्कार, विचित्र शिशुजन्म, दैवी चमत्कार ये सब हिन्दी समाचारपत्रोंके लिए आसानीसे उपलब्ध हो सकते हैं। बाक़ी आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक जन जीवनमें घटनेवाली घटनाएँ या प्रगट होनेवाले प्रभाव अंग्रेज़ीसे अनुवाद कर लिये जा सकते हैं क्योंकि हिन्दीमें तो यह कालान्तर-में लिखे ही जायेंगे, समय आनेपर, और समय तो अभी संवि-धानके अनुसार भी बहुत है। चलनेसे पहले मैंने सम्पादकजी की ओर एक बार हार्दिक समवेदनासे देखा। गन्दे और समयसे जाने कितना पिछड़े हुए पोस्टरोंके बीच एक मझोले आकारकी मेज़पर सम्पादकत्वकी आदि-चिह्न कैंची और गोंददानीके सामने वह बैठे हुए थे। एक अद्भुत शान्ति उनके चेहरेपर विराज रही थी जैसे उन्होंने बरसोंसे कोई नयी चीज़ न करनेके अभ्याससे अपने अन्तरका सारा कलुष धो दिया हो और अब शुद्ध फलाहार-की भाँति पवित्र हो गये हों।

नमस्कार करके मैं चला आया और बाहरकी हवामें एक लम्बी साँस मैंने ली—वहाँ कमसे कम इतनी आज़ादी तो थी कि जीवनके वैविध्यको देख सकूँ, चाहे तीस हज़ार ग्राहक संख्यावाले हिन्दीके उस महादैनिक पत्रमें उसका कोई अंश झलक पाये चाहे न झलक पाये।

प्रसरण और हिन्दीवाले

अपनी योजनाओंके परिणामोंको निरपेक्ष दृष्टिसे समझते चलना लोकतन्त्रीय व्यवस्थाओंकी मौलिक आवश्यकताओंमेंसे एक है। हमलोग, जिन्होंने दुर्भाग्यवश अंग्रेज़ोंके हाथसे पायी शिक्षाओंमेंसे नौकरशाहीकी शिक्षा ज़्यादा अच्छी तरह याद रक्खी है, इस तरहकी निरपेक्षता शायद सैद्धान्तिक दृष्टिसे ही ज़रूरी समझते हैं। 'शायद' इसलिए कह रहा हूँ कि हो सकता है इसके जितने प्रमाण मिलते हैं वे ऊपरी ही हों, अन्दर कहीं उनमें लोक-कल्याणकी एक गहरी भावना छिपी हो पर लोककल्याणकी यह छिपी हुई भाववाचक, अमूर्त, निश्चिन्त भावना भी आज विश्लेषणकी अपेक्षा रखती है। 'हमारे हृदयमें सद्भाव है' पर उस सद्भावका प्रभाव यथार्थमें क्या हो रहा है यह देखनेकी ज़रूरत इस प्रवृत्तिके पोषकोंको शायद नहीं मालूम होती–यही अभाव है उस निरपेक्षताका, जिसे लोकतन्त्रका आनुषंगिक होना चाहिए था।

पर यहाँ नौकरशाहीके केवल एक क्षेत्रको ही लेकर हम चिन्तित हैं। आल इण्डिया रेडियोकी तीसवीं जयन्ती एक शानदार अवसर है और शानदार अवसर निश्चिन्तता बढ़ानेमें सहायक हुआ करते हैं, इसलिए इस समय थोड़ा-सा स्पष्ट चिन्तन आकाशवाणी और उसकी ओर कान लगानेवाले मानवों, दोनोंके लिए हितकर ही होगा।

अपने मुँहसे अपने कृतित्वकी प्रशंसा करनेमें आकाशवाणी अन्य सरकारी विभागोंसे बहुत पीछे नहीं रही है। लगभग हर उत्सवमें ऐसी एक सदाशय रिपोर्ट देनेकी प्रथा ही है। तो भी क्या श्रोताओंको एकदम कुन्द और बेचारा मानकर चला जा सकेगा ? आमतौरसे अपने यहाँ रेडियोके श्रोता दो तरहके हैं। एक वे जो कि कुछ-न-कुछ आवाज़ रेडियोसे निकलते रहने देना ही काफ़ी समझते हैं, दूसरे वे जो रेडियोको एक खिलौना या कौतूहल या समृद्धिका चिह्न न मानकर उसे एक आधुनिक साधन मानते हैं। वह साधन मनोरंजनका भी हो सकता है, सूचना-संचयका भी, ज्ञानवर्द्धनका भी। पहली श्रेणीके लोगोंमें स्वाभाविक ही है कि आकाशवाणीके कार्यक्रमोंके प्रति कोई शिकायत न हो। दूसरी श्रेणीके लोगोंमें ऐसे बहुतसे हो सकते हैं जिन्हें अक्सर कुछ चीज़ें खटक जाया करती हों, पर ऐसे शायद कम होंगे जो आधुनिक जीवनकी आवश्यकता समझकर तत्सम्बन्धी लोगोंको तुरन्त अपनी रायसे अवगत करा देना चाहते हों। सच तो यह है कि इस तरहकी जागरूक चेष्टाको कितने ही पढ़े-लिखे विद्वान् केवल अधिकारियोंपर प्रभाव डालनेका साधन मानते हैं और इसी रूपमें इस्तेमाल भी करते हैं। भारतमाताके दुर्भाग्यसे सरकारी विभागोंमें इस तरहकी धमकानेवाली शिकायतोंपर तुरन्त ख़ुश करनेवाली कार्रवाई करनेकी रीति भी चल पड़ी है—शिकायतका गुणदोष उनके लिए महत्त्वका नहीं रह गया है, महत्त्वपूर्ण यह रह गया है कि तत्सम्बन्धी अधिकारी अपनी जान बचानेके लिए क्या कर सकता है।

इस तरह श्रोताओंकी असली प्रतिक्रियासे वंचित रहकर

आकाशवाणीने एक ऐसी स्थिति स्वीकार कर ली है जिसमें वह, स्वतन्त्र भारतीय श्रोतावर्गका सर्वेक्षण, अपने कार्यक्रमोंकी सार्थकताकी जाँच, नये कार्यक्रमों या योजनाओंके पहले उनकी सचेत परिकल्पना और अपने कार्यक्रमोंकी प्रतिक्रियाओंके अनुसार आवश्यक परिवर्तन, इनमेंसे कुछ भी करनेको अपनी ओरसे, अपने एक नियमित कर्त्तव्यके तौरपर, तैयार नहीं है।

इसके उत्तरमें तुरन्त ही कहा जा सकता है कि यह बिलकुल ग़लत है। प्रत्येक पत्रपर आकाशवाणीके यहाँ न्याय होता है, कोई भी शिकायत लिखकर आप देख सकते हैं। निश्चय ही यही तो समस्या है। इक्का-दुक्का चिट्ठियोंपर कार्रवाई करनेकी मुस्तैदी और चीज़ है, देशकी सांस्कृतिक परम्पराओंपर एक शक्तिशाली प्रचार-साधन द्वारा नियामक प्रभाव डालनेवाले अपने कार्योंके प्रति ईमानदारी और निरपेक्षता और चीज़ है। आल इण्डिया रेडियोके समाचार-विभागको किसी भी दिन एक ज़ोरदार पत्र लिखकर हिन्दीके समाचारोंमें प्रयुक्त होनेवाले किसी शब्दको 'दुरूह' बताकर उसका लिखा जाना रोका या बदला जा सकता है—राजनीतिक विद्वान् या नेताकी शिकायत है, अमल होना ही चाहिए—यह लोकतन्त्र नहीं तो और क्या है? समाचार-विभागके ऊँचे अधिकारियोंका व्यावहारिक हिन्दी-भाषाकी प्रवृत्तियों और परम्पराओंका अज्ञान और राष्ट्रभाषा हिन्दीका आतंक बहुत हद तक उनकी इस विशेषताका कारण है—उन्हें इस तरहसे हरएकको ख़ुश रखना ही पड़ता है। हो सकता है पड़ता हो पर यह कोई तर्क नहीं है और इस प्रश्नका तो, कि श्रोता-सम्पर्क-विभाग और अनुसन्धान-विभाग क्यों नहीं कुछ सार्थक और सक्रिय काम कर रहे हैं, यह निश्चित रूपसे

अत्यन्त असन्तोषजनक उत्तर है। समाचार-विभागका भी उतना क़सूर नहीं, हिन्दी सम्बन्धी अपनी अयोग्यताओंके कारण वह आकाशवाणीके अन्य विभागोंसे अधिक निरीह है। पर बाक़ी कार्यक्रमोंकी ओर हम ऐसी उदारता नहीं बरत पायेंगे। अगर हमें कार्यक्रमोंके एक 'औसत' स्तरपर क़वायद करते रहनेसे शिकायत है तो जो लोग असली काम करते हैं—वास्तविक माइक्रोफोनके सामने—जिनको प्रसरणकी समस्याओंका आमने-सामने अनुभव होता है, जिनकी आवाज़ हम सुनते हैं और जिनके व्यक्तित्वकी ध्वनि-तरंगें हम तक पहुँचती हैं, उनसे अप्रसन्न होना कोई ज़्यादा माने नहीं रहता। वे आकाशवाणीके सबसे कम तेल पानेवाले और सबसे अधिक घिसनेवाले पुर्ज़े हैं। सत्य है कि उनकी उन्नति और उनकी कलात्मक प्रगतिकी तरफ़ ध्यान देना सरकारने उतना ज़रूरी नहीं समझा है जितना कि रेडियोके कामका अपेक्षया न्यून अनुभव रखनेवाले बड़े-बड़े नामोंके ऊपर भारी-भारी ख़र्चे करना, तो भी ऐसा प्रत्येक अधिकारी जिसने शुरूके दिनोंमें कुछ प्रसरण किया है, अपने मनमें निश्चय ही जानता होगा कि इन्हें निदरा कर प्रसरणकलाकी उन्नति वह नहीं कर रहा है। किसी तरह सब काम ठीक-ठीक चलता रहे, प्रसरणकी अवधिमें एक बार भी रेडियो मौन न होने पावे, बाहरके सभी प्रभावशाली व्यक्ति सन्तुष्ट रहें—इसीकी व्यवस्था करनेमें वह लगा हुआ है। निश्चय ही वह यह जानता है पर कुछ कर नहीं सकता। यह उसीकी नहीं, हमारी-आपकी प्रशासन-व्यवस्थाकी विडम्बना है और इतनी बड़ी विडम्बना है कि आकाशवाणीके हाथों श्रोताओंपर होनेवाले अत्याचार उसके सामने राई बराबर रह जाते हैं। पर अपनेको इस समय

प्रसरण व्यवस्था तक सीमित रखते हुए देखना चाहिए कि क्या कमज़ोरियाँ हैं जिनकी वजहसे यह स्थिति पनप रही है। लालफ़ीते की गाँठें केवल एक कारण हैं—और किसी भी कलाक्षेत्रमें उनका पड़ जाना दुर्भाग्य है—पर एक दूसरा कारण भी है और वह है रेडियो-समीक्षाके व्यावहारिक मानदण्डोंका अभाव। कितने पत्र और पत्रिकाएँ हैं—और हिन्दी-पत्रोंकी संख्या सबसे अधिक है यह हालमें घोषित किया जा चुकाहै—जो रेडियो कार्यक्रमोंको साहित्यकी तरह आलोचनाका विषय मानती हैं ? यह भी कहा जा सकता है कि साहित्यको छोड़ चित्रकला, रङ्गमञ्च, सिनेमा, दस्तकारी इनमेंसे किसीको कौन आलोच्य कला मानता है जो प्रसरणको माने—या यह कि साहित्यकी ही आज कौन आलोचना करता है, आलोचना तो बिल्लों और व्यक्तियोंकी की जाती है; पर यह तर्क वे लोग नहीं मान सकते जो घटते हुए मानोंको उनके विघटित रूपमें स्वीकार नहीं करना चाहते हैं। प्रसरण एक कला-माध्यम है—उसकी व्यवस्था करनेवाली संस्था कैसी भी हो—यह कितने दिग्गज माननेको तैयार हैं ? दिग्गजोंको छोड़ें, उनके शिक्षण-काल या विकासक्रममें प्रसरणका वह स्थान नहीं रहा जो आजके साहित्यिकोंके समयमें है या हो सकता है, आजके ही लेखकोंको लें—"अरे यह तो रेडियोके लिए लिखा था, इसमें कुछ है नहीं", "अमुकको प्रोग्राम नहीं दिये जा रहे हैं", "अमुक आजकल कुछ रेडियो-वेडियोका काम कर रहा है" इस तरहकी प्रतिक्रियाएँ ही अधिक देखनेमें आती हैं। सब लेखकोंको प्रसरणका विशेषज्ञ बनना ज़रूरी नहीं है, ठीक वैसे जैसे सबको लेखक बनना ज़रूरी नहीं है, पर साहित्यिक अभिव्यक्तिका एक नया माध्यम, चलचित्रकी

तरह, माइक्रोफ़ोन भी है, इस तथ्यकी ओरसे आँखें बन्द कर लेना हिन्दी-साहित्यके लिए विकासकी एक दिशा—एक आयामको बन्द कर देना है इसमें सन्देह नहीं। रचनात्मक कार्यके अभावमें समीक्षात्मक कार्य नहीं ही हो सकता है—हो सकता है तो व्यक्तियोंकी आलोचना करने, प्रभाव डालने, या सनसनी पैदा करनेके ही स्तरपर हो सकता है, जिसमें, जैसा कि हिन्दी-पत्रोंके कालम देखनेसे विदित होगा, केवल वे ही पत्र, लेखक या सम्पादक दिलचस्पी रख सकते हैं जिन्हें इसीमें दिलचस्पी हो। आज प्रसरण-कलाके प्रति रुचि रखनेवालेका अपना धर्म निबाहना आसान किसी तरह नहीं है, पर आल इण्डिया रेडियोका अपने कार्यक्रमोंके शिल्प-पक्षपर ज़ोर न देना ही उसकी मुश्किलोंकी कुल वजह नहीं। रेडियोपर बोलनेको एक कौतूहल, या एक गौरव मानने, 'रेडियो ने बुलाया है' ऐसी प्रतिष्ठासे अपना 'साहित्यिक' स्तर ऊँचा उठाने और अगर रेडियोमें नौकर हुए तो उसे 'अरे यहाँ तो ऐसे ही चलताऊ काम करके छुट्टी करनी है' ऐसी एक महान् सुविधा माननेमें ही जिन्होंने हिन्दी-प्रसरणके प्रति अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझ रक्खी है, उन्होंने एक ख़ास तरहका निश्चिन्त और 'औसत' वातावरण पैदा किया है : यह वातावरण भी उन मुश्किलोंकी एक वजह है।

जब तक प्रसरणको एक कला-माध्यमके रूपमें नहीं अपनाया जाता—कमसे कम अपनानेकी कोशिश नहीं की जाती तब तक रेडियो-समीक्षाके स्वस्थ मानदण्ड भी नहीं खड़े हो सकते और जब तक कलाकी केवल कलाकी दृष्टिसे समीक्षा करना हम नहीं

सीखते तब तक आकाशवाणीके यहाँ उसके कार्योंके लिए निरपेक्ष आलोचनात्मक दृष्टि न होनेके ज़िम्मेदार हम भी उतने ही हैं जितनी बिचारी नौकरशाही है। पर प्रश्न तो यह है कि क्या हम उतने ही असहाय भी हैं ?

[सम्पादकीय टिप्पणी : कल्पना]

कविता और करुणा

कविता बहुत कुछ एक अनुशासन है : समाज और देश और संसारकी हमारी चेतना हमारे कविके लिए व्यर्थ है यदि अनुभवके क्षणको वह शेष अनुभवसे सम्पृक्त न कर सका। यदि आजका एक स्फुरित क्षण उसकी जीवनलालसा और सामाजिक चेतनासे स्फुरित नहीं है तो वैसी क्षणिक जीवनप्रियताका कोई प्रयोजन नहीं—कमसे कम विशालतर काव्यके पक्षमें तो कोई नहीं, सामान्यतर व्यक्तिकी तनरक्षा-बुद्धिको वह भले ही मधुर जान पड़े।

जीवन विराट् है और कवि पहले उस जीवनके प्रति उत्तर-दायी है, बादमें, बादमें क्यों ? यदि वह किसीके प्रति उत्तरदायी है तो वह 'कोई' सम्पूर्ण है, और बादमें किसीके प्रति उत्तर देने-का प्रश्न नहीं उठता। विराट् जीवनके कुछ सहज मूल्य हैं, उन्हें उनकी सारी सहजतामें आत्मसात् करनेके लिए एक सहज मन भी चाहिए···कि नहीं ? इसीसे यह ऊब, यह खीज, यह कौतूहल, यह गुदगुदी, यह सब त्वचाकी समवेदनाएँ···त्याज्य हैं। वह सौन्दर्य-दृष्टि, वह सरल करुणा, वह शान्त और अविकल अनुभवकी शक्ति जो केवल एक मानसिक साधनासे मिलती है कविका आदि है और कविधर्मका मूलमन्त्र है।

आनन्दके एक क्षणसे दूसरे तक, सत्यके एक ज्वलित मुहूर्तसे दूसरे तक हमारा चेतन-व्यक्ति बढ़ता जाता है; इसी सौन्दर्यमें

मुक्ति है। यही पुरुषकी वह विशाल करुणा है जो सारे उत्पादन, ज्ञान-विज्ञान और राजनीतिका, और प्रकृतिके शासनका कारण बनती है : यही चारों ओरका संसार जो सामान्य भोगीके लिए कारागार है कविके लिए मुक्तिका द्वार है। सौन्दर्य स्वयम्भू होता है, वह एक करुणा है जो 'न कहीं' से आकर मनको अविकल कर जाये—शान्त और सौम्य। वह एक लालसा नहीं जो किसी हेतुके लिए हो और जो मनको उद्विग्न या उदास कर जाती हो। वही कविकी साधनाका आदर्श हैं जिसके लिए वह पुकारता है :

नीचे घास
ऊपर अकास
ऐसा ही होता यदि जीवनमें विश्वास
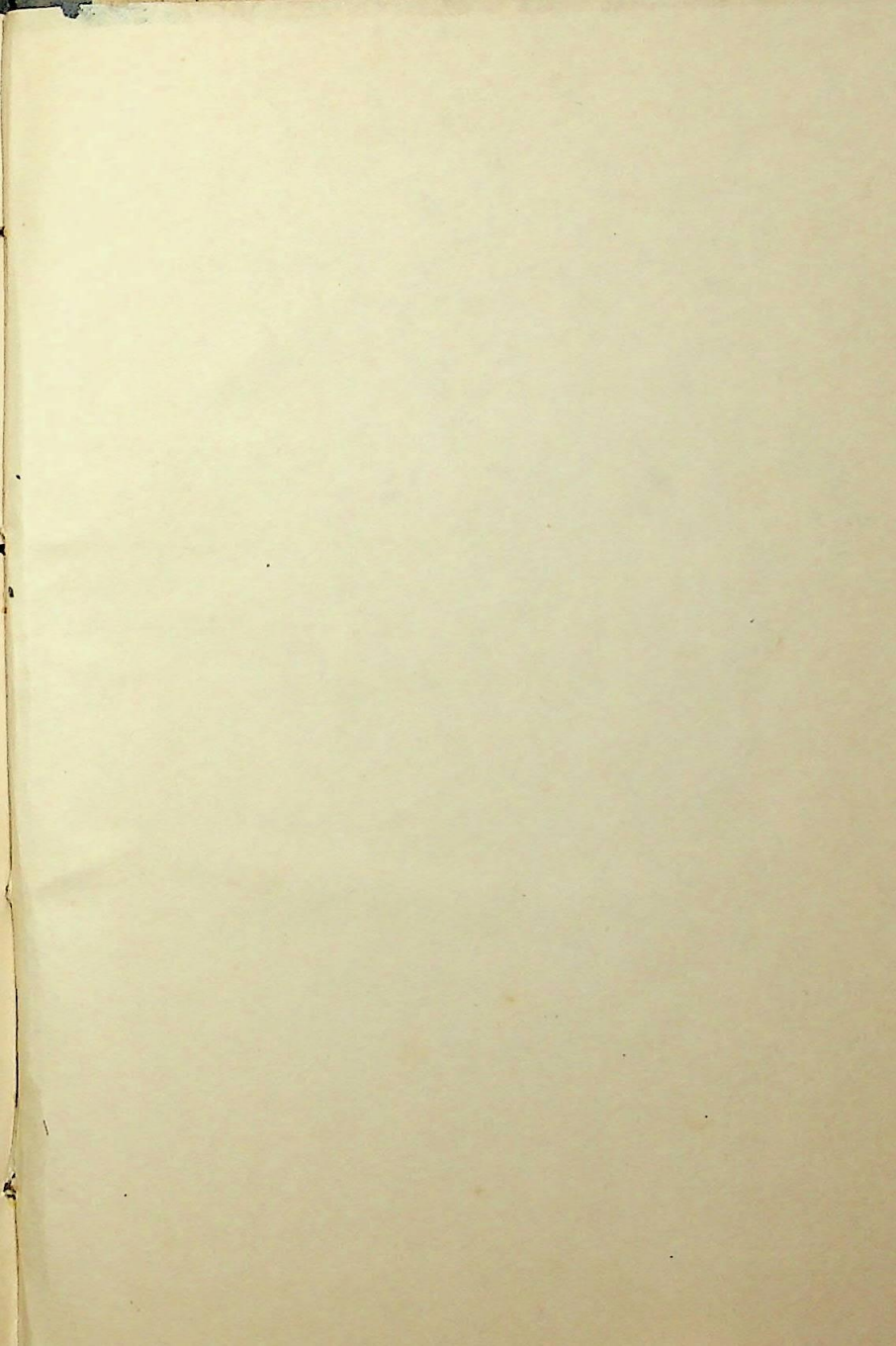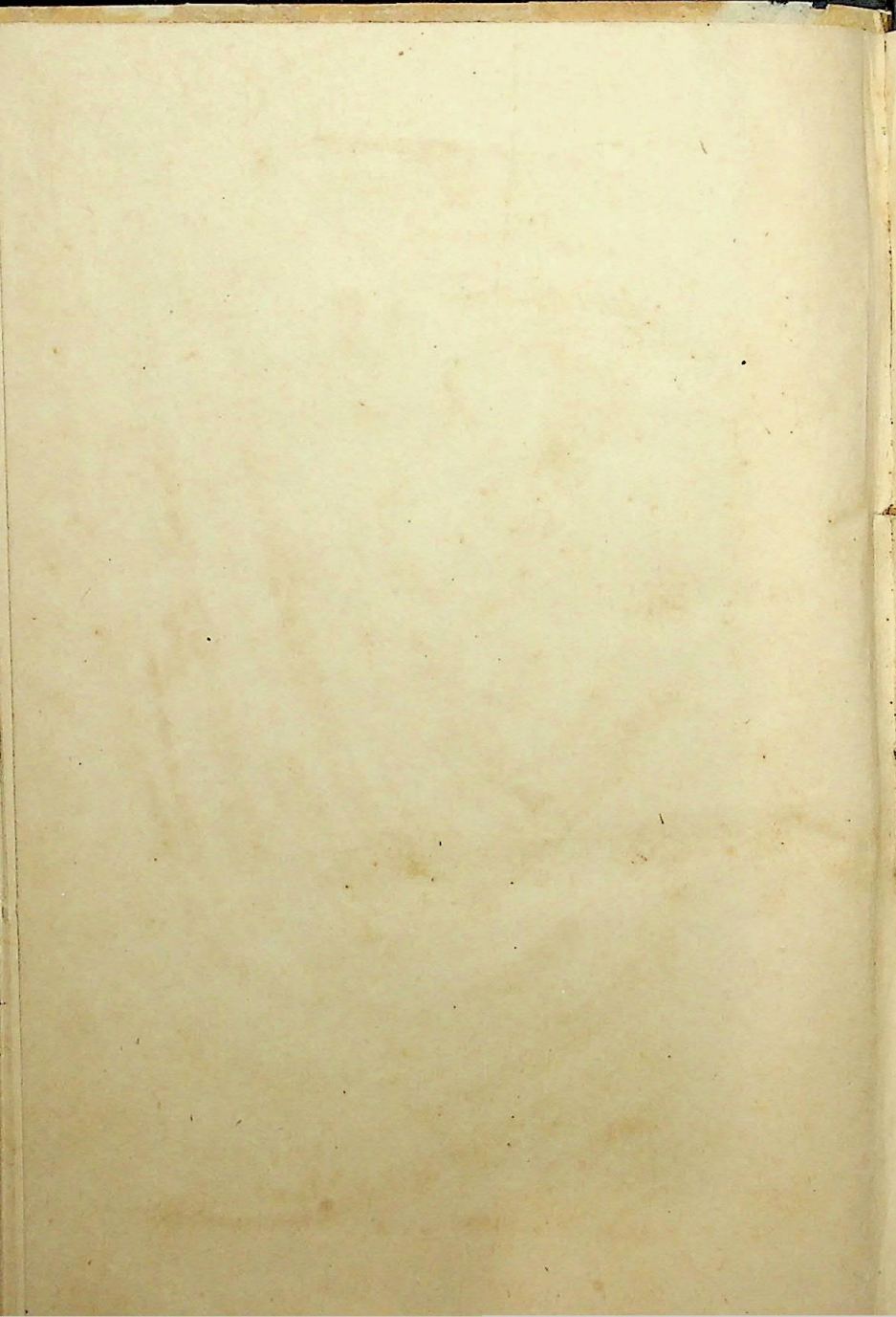
भारतीय ज्ञानपीठ काशी

उद्देश्य

ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्रीका अनुसन्धान और प्रकाशन तथा लोक-हितकारी मौलिक साहित्यका निर्माण

संस्थापक
साहू शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

मुद्रक—सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी